१ हठप्रदीपिका का संक्षिप्त परिचय

हठप्रदीपिका और हठयोग को एक दूसरे का पर्यायवाची कहा जाये, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। हठयोग की कोई भी चर्चा बिना हठप्रदीपिका के पूर्ण नहीं होती। यौगिक ग्रन्थों में इसका स्थान अतुल्यनीय है।

हठयोग के इस अनुपम ग्रन्थ के रचयिता स्वामी स्वात्माराम हैं। हठप्रदीपिका की उपयोगिता का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है, कि योग का कोई भी सर्टिफिकेट, डिप्लोमा, ग्रेजुएशन व पोस्ट ग्रेजुएशन कोर्स ऐसा नहीं है, जो बिना हठप्रदीपिका के पूर्ण होता हो।

स्वामी स्वात्माराम

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि हठप्रदीपिका ग्रन्थ के रचनाकार स्वामी स्वात्माराम हैं। स्वामी स्वात्माराम की गणना हठयोग के प्रसिद्ध आचार्यों में की जाती है।

अत्यन्त गूढ़ व केवल ऋषियों के योग्य समझे जाने वाले हठयोग के इस ज्ञान को सर्व सुलभ करवाने का श्रेय भी स्वामी स्वात्माराम को ही जाता है। इन्होंने अपनी इस अनमोल निधि के माध्यम से योग के उन सभी विषयों को योग साधकों के सामने सरलतम रूप में प्रस्तुत किया है, जिनकी तत्कालीन व आधुनिक समाज को आवश्यकता थी। इनकी अत्यन्त सरल व सारगर्भित भाषा शैली को आप इस अनुपम रचना (हठप्रदीपिका) में पढ़ पायेंगे।

ये इनकी दूरगामी सोच का ही परिणाम है कि वर्तमान समय में भी हठप्रदीपिका की उपयोगिता उतनी ही है, जितनी कि चौदहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य थी। यदि ये कहा जाये कि वर्तमान समय में हमारे समाज को हठयोग के इस अनुपम ज्ञान की पहले से भी ज्यादा आवश्यकता है, तो ये बिल्कुल सही होगा।

हठप्रदीपिका का काल

हठप्रदीपिका के काल के विषय में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। सभी ने इसके रचनाकाल के विषय में अपने अपने मत दिए हैं।

मुख्य रूप से विद्वानों ने तेहरवीं (13 वीं) शताब्दी से लेकर अठारहवीं (18 वीं) शताब्दी तक के काल को हठप्रदीपिका का काल कहा है।

अन्त में सभी विद्वानों के मतों की समीक्षा करके 14 वीं से 15 वीं शताब्दी के मध्यकाल को ही हठप्रदीपिका की उत्पत्ति का काल माना गया है।

हठप्रदीपिका में योग का स्वरूप

हठप्रदीपिका हठयोग साधना पद्धति का ग्रन्थ है, जिसके आदि प्रवर्तक अथवा पहले वक्ता स्वयं भगवान शिव हैं। भगवान शिव को आदिनाथ भी कहा जाता है। आदिनाथ के कारण ही इसे नाथयोग अथवा नाथ सम्प्रदाय का योग भी कहा जाता है। स्वामी स्वात्माराम स्वयं भी इसी नाथ परम्परा के अनुयायी थे। आज भी नाथ सम्प्रदाय भारत के सबसे बड़े सन्त सम्प्रदायों में से एक है। भारतवर्ष के प्रत्येक क्षेत्र में आपको नाथ सम्प्रदाय के मन्दिर और मठ बहुतायत मात्रा में देखने को मिलेंगे। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही हठयोग परम्परा के सभी सिद्धों और आचार्यों को नमस्कार करते हुए स्वामी स्वातमाराम द्वारा उनके प्रति कृतज्ञता भी प्रकट की गई है।

हठयोग साधना का लक्ष्य

हमारे जीवन में प्रत्येक कार्य करने के पीछे कोई न कोई लक्ष्य और उद्देश्य होते ही हैं। इसी कड़ी में हठयोग साधना के लक्ष्य को बताते हुए स्वामी स्वात्माराम बताते हैं कि इस "हठयोग साधना का उपदेश केवल राजयोग की प्राप्ति के लिए किया जा रहा है"।अर्थात् हठयोग साधना का लक्ष्य केवल राजयोग की प्राप्ति करना है।

हठयोग व राजयोग एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। जिस प्रकार केवल एक तरफ से छपे हुए सिक्के का कोई मूल्य नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार अकेले हठयोग या राजयोग का भी कोई मूल्य नहीं है। यहाँ पर हठयोग साधन और राजयोग साध्य है। अर्थात् हठयोग को राजयोग की प्राप्ति का माध्यम या साधन माना गया है। हठयोग साधना का पालन करके ही राजयोग को प्राप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राजयोग को प्राप्त करने का अन्य कोई साधन नहीं है। इसलिए यह दोनों एक दूसरे पर पूर्ण रूप से आश्रित हैं।

हठप्रदीपिका में योग के अंग

योग के सभी आचार्यों ने योग के भिन्न भिन्न प्रकारों अथवा अंगों की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है। इसी कड़ी में स्वामी स्वात्माराम ने हठप्रदीपिका के पाँच उपदेशों के माध्यम से योग के चार अंगो का वर्णन किया है। जिनका वर्णन इस प्रकार है।

1. आसन

2. प्राणायाम

3. मुद्रा

4. नादानुसंधान।

आसन: हठप्रदीपका के पहले ही उपदेश में स्वामी स्वात्माराम योग के प्रथम अंग अर्थात् आसन की चर्चा करते हुए पन्द्रह आसनों का उपदेश करते हैं। इन सभी आसनों में से सिद्धासन को सबसे श्रेष्ठ आसन माना गया है।

कुम्भक (प्राणायाम) : दूसरे उपदेश में कुम्भक की चर्चा करते हुए आठ कुम्भकों का वर्णन किया है। यहाँ पर प्राणायाम को ही कुम्भक कहकर संबोधित किया गया है। इन सभी कुम्भकों में केवल कुम्भक को सबसे श्रेष्ठ कुम्भक अथवा प्राणायाम माना गया है।

मुद्रा : हठप्रदीपिका के तीसरे उपदेश में योग के तीसरे अंग अर्थात् मुद्राओं का वर्णन करते हुए, कुल दस मुद्राओं की चर्चा की गई है। जिनमें खेचरी मुद्रा को सबसे श्रेष्ठ मुद्रा माना गया है।

नादानुसंधान : योग के अन्तिम अंग अर्थात् नादानुसंधान का वर्णन हठप्रदीपिका के चौथे उपदेश में किया गया है। नादानुसंधान की कुल चार अवस्थाएँ कही गई है। जिनमें साधक को अलग अलग प्रकार के नाद सुनाई पड़ते हैं। निष्पत्ति अवस्था को नादानुसंधान की सबसे उत्तम अवस्था माना गया है।

बाह्य दिखावे की आलोचना एवं कर्मयोग की महत्ता : स्वामी स्वात्माराम ने बाहरी आडम्बरों की खुल कर आलोचना करते हुए कर्मयोग पर बल दिया है। इनका मानना है कि केवल योगियों जैसी वेशभूषा बनाने से, मात्र योग के विषय में कथा कहानियाँ सुनने मात्र से, केवल ग्रन्थ पढ़ने से या योग के विषय में केवल बातें करने से योग में सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। योग में सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले साधक को बिना आलस्य किए, निरन्तर योग का अभ्यास करना चाहिए। योग में सिद्धि प्राप्त करने का यही एकमात्र उपाय है। उपर्युक्त कथन से स्वामी स्वात्माराम कर्मयोग की अनिवार्यता पर बल देते हुए कर्मयोग को सफलता अथवा सिद्धि प्राप्त करने का आधार मानते हैं।

क्रियाओं की गोपनीयता : हठयोग के प्रायः सभी ग्रन्थों में योग की बहुत सारी क्रियाओं को अत्यन्त गोपनीय रखते हुए, चाहे जिसे भी इसका ज्ञान न देने की बात को प्रमुखता से कहा गया है। इसका अर्थ यह बिल्कुल भी नहीं है कि हमें इन सभी क्रियाओं को पूर्ण रूप से गुप्त रखते हुए किसी के भी सामने इनकी चर्चा नहीं करनी चाहिए। हम किसी भी बात अथवा किसी पदार्थ को मुख्य रूप से दो ही स्थितियों में गुप्त रखते हैं। या तो वह अत्यन्त दुर्लभ अथवा कीमती (जो आसानी से प्राप्त न हो सके) हो या फिर घोर निन्दनीय (बहुत बुरी) हो। इसी कड़ी में हम न ही तो अपने बहुमूल्य ख़ज़ाने के बारे में किसी से चर्चा करते हैं और न ही अपनी किसी बुराई अथवा कमजोरी की। दोनों को ही हम पूर्ण रूप से गुप्त रखने का प्रयास करते हैं। हम अपने ख़ज़ाने या कमजोरी की चर्चा अपने विश्वसनीय मित्र अथवा परिवार के किसी सदस्य के सामने ही करते हैं, अन्य किसी के सामने नहीं। ठीक इसी प्रकार हमें योग की अत्यन्त गुणकारी क्रियाओं को भी अयोग्य अथवा दुष्ट व्यक्तियों से पूर्ण रूप गुप्त रखना चाहिए और अपने विश्वसनीय या योग्य व्यक्ति को ही इसका ज्ञान प्रदान करना चाहिए।

इन्हें गुप्त रखने के पीछे सबसे मुख्य कारण है कि ये अत्यंत प्रभावी और उत्कृष्ट साधना पद्धतियां हैं। यदि आप इन अभ्यासों की चर्चा सबके सामने करते हैं, तो इनका उपहास उड़ाया जा सकता है। अतः इनकी चर्चा अथवा जानकारी योग्य (पात्र) व्यक्ति को ही देनी चाहिए, क्योंकि वही इनकी उपयोगिता को अच्छी प्रकार से समझ सकता है।

यह पूर्ण रूप से गुरु के विवेक का विषय है कि वह स्वयं इसका निर्धारण करे कि किसे इनका ज्ञान देना चाहिए और किसे नहीं। इस ज्ञान के असली पात्र को एक गुरु ही अच्छी प्रकार से जान सकता है। इसलिए इन क्रियाओं को गुप्त रखने की बात पूर्ण रूप से तार्किक और न्यायसंगत है।

अतिश्योक्ति अलंकार का प्रयोग : प्रत्येक लेखक अथवा वक्ता की लिखने अथवा बोलने की एक विशेष शैली होती है। जिसमें वह अनेक प्रकार के अलंकारों का प्रयोग करता है। यहाँ पर स्वामी स्वात्माराम ने भी अपनी भाषा शैली में अतिशयोक्ति अलंकार का बख़ूबी से प्रयोग किया है। अतिश्योक्ति अलंकार का अर्थ है बात को बढ़ा चढ़ाकर बताना अथवा बात को अत्यन्त रुचिकर बनाकर बताना। जिस प्रकार हम किसी अत्यन्त सुन्दर स्त्री को देखकर "चाँद सा मुखड़ा" नामक वाक्य का प्रयोग करते हैं। ये कहना भी अतिश्योक्ति अलंकार के अन्तर्गत ही आता है। वास्तव में तो किसी का मुँह चाँद जैसा होता ही नहीं है। लेकिन जो हमें बहुत ख़ूबसूरत लगता है, तो उसकी ख़ूबसूरती को दर्शाने के लिए हम इस वाक्य का प्रयोग करते हैं। ठीक इसी प्रकार ग्रन्थकार ने भी यहाँ पर बहुत बार इस अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग अपने ग्रन्थ में किया है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

मृत्यु पर विजय प्राप्त करना : इस वाक्य का प्रयोग भी आपको इस ग्रन्थ में बहुत बार देखने को मिलेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि हठयोग करने से मृत्यु को टाला जा सकता है। इसका अर्थ है कि साधक ने हठयोग साधना द्वारा आत्मा और परमात्मा का एकीकरण कर दिया है। जिससे उसके अन्दर से मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है साथ ही हठयोग साधना से साधक की अकाल मृत्यु भी नहीं होती है। इस प्रकार अकाल मृत्यु न होने व मृत्यु का भय समाप्त होने को ही ग्रन्थकार ने मृत्यु पर विजय प्राप्त होना माना है।

सभी रोग का समाप्त होना : बहुत सारे श्लोकों में आपको पढ़ने को मिलेगा कि इस अभ्यास द्वारा साधक के सभी रोग समाप्त हो जाते हैं। इसे हमें इस रूप में समझना चाहिए कि इस अभ्यास के करने से साधक के अधिकांश रोग समाप्त हो जाते हैं।

बूढ़े का भी जवान हो जाना : अनेक मुद्राओं के लाभ में आपको लिखा मिलेगा कि इसके अभ्यास से बूढ़ा व्यक्ति भी जवान हो जाता है। इसे भी हम इस अर्थ में समझ सकते हैं कि इस अभ्यास द्वारा साधक के शरीर में नई ऊर्जा व उत्साह का संचार होता है जिससे वह अपने आप को युवा महसूस करता है। साथ ही मुद्राओं के अभ्यास से साधक का ओज व तेज बढ़ता ही रहता है। इसलिए योगाभ्यास से व्यक्ति में बुढ़ापे के लक्षण दिखते ही नहीं हैं। इसके अलावा जो व्यक्ति बुढ़ापे में योग का अभ्यास करना आरम्भ करता है, तो उसके शरीर में भी युवा अवस्था वाले लक्षण दिखाई देने लगते हैं। इसलिए कहा गया है कि योग के अभ्यास से बूढ़ा भी जवान हो जाता है।

हठप्रदीपिका के उपदेशों (अध्यायों) का संक्षिप्त परिचय

अब हम हठप्रदीपिका के सभी पाँच उपदेशों के विषयों का संक्षिप्त अवलोकन करेंगे। स्वामी स्वात्माराम ने हठप्रदीपिका के पहले चार अध्यायों में योग के एक एक अंग की चर्चा की है और अन्तिम पाँचवें अध्याय में गलत विधि से योगाभ्यास करने पर उत्पन्न होने वाले रोगों की यौगिक चिकित्सा पद्धति का वर्णन किया है।

प्रथम उपदेश (पहला अध्याय)

प्रथम उपदेश में स्वामी स्वात्माराम ने सर्वप्रथम आदिनाथ शिव व उनके बाद के सभी योगियों को नमन करते हुए हठयोग विद्या का उपदेश प्रारम्भ किया है। जिनमें कुछ के नाम निम्न हैं गुरु मत्स्येन्द्रनाथ, शाबर नाथ, आनन्द भैरव नाथ, चौरंगी नाथ, मीन नाथ, गुरु गोरक्ष नाथ, चर्पटी नाथ आदि।

हठयोग साधना के लिए उपयुक्त स्थान

हठप्रदीपिका में योग साधना आरम्भ करने से पहले योगी के लिए उपयुक्त स्थान व देश का वर्णन किया है। योग साधना के स्थान को 'मठिका' अर्थात् कुटिया कहा है। हठयोगी को एकान्त स्थान में, जहाँ का राज्य अर्थात देश अनुकूल हो, धार्मिक हो, धन्य धान्य से भरपूर हो, जहाँ किसी तरह का कोई उपद्रव न होता हो, ऐसी जगह पर साधक को एक कुटिया बनाकर रहना चाहिए। आगे उस कुटिया के बारे में बताते हुए कहा है कि उस कुटिया के चारों तरफ चार हाथ प्रमाण (लगभग 25 फीट तक) तक पत्थर, अग्नि व पानी आदि नहीं होना चाहिए। उसका द्वार छोटा हो, कोई छिद्र अथवा बिल न हो, जमीन समतल अर्थात ऊँची नीची न हो, ज्यादा बड़ा स्थान न हो, गोबर से लिपा हुआ, साफ व स्वस्छ हो, कीड़े आदि से रहित, उसके बाहर मण्डप, यज्ञवेदी, कुआँ आदि से सम्पन्न होने चाहिए। साथ ही कुटिया के चारों तरफ दीवार बनी होनी चाहिए। ताकि कोई जंगली जानवर या पशु अन्दर न आ सके।

साधक व बाधक तत्त्व

हठप्रदीपिका में योग साधना में बाधक व साधक तत्त्वों का वर्णन किया है। जिनमें से बाधक तत्त्वों का त्याग करके साधक तत्त्वों का पालन करने का उपदेश किया गया है।

बाधक तत्त्व

स्वामी स्वात्माराम ने योग साधना में बाधा उत्पन्न करने वाले छः (6) बाधक तत्त्वों का वर्णन किया है। एक योगी साधक को बाधा पहुँचाने वाले इन सभी बाधक तत्त्वों से बचना चाहिए। निम्न तत्त्वों को बाधक तत्त्वों के रूप में माना गया है

1. अत्याहार (अत्यधिक भोजन करना)
2. प्रजल्प (अत्यधिक बोलना)
3. प्रयास (अत्यधिक परिश्रम करना)
4. नियमग्रह (नियम पालन में कठोरता)
5. जनसंग (अत्यधिक लोगों से सम्पर्क)
6. चंचलता (मन का अत्यधिक चंचल होना)।

योग साधना में सफलता प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले साधक को चाहिए कि बाधा उत्पन्न करने वाले इन सभी तत्त्वों को अपने व्यवहार से सर्वथा दूर रखें।

साधक तत्त्व

स्वामी स्वात्माराम ने योग साधना में सहयोग करने वाले साधक तत्त्वों के भी छः (6) भेद माने हैं। योगी द्वारा इन साधक तत्त्वों का पालन करने से साधना में सफलता प्राप्त होने में आसानी रहती है। निम्न तत्त्वों को साधना में साधक माना गया है

1. उत्साह
2. साहस
3. धैर्य
4. तत्त्व ज्ञान
5. दृढ़ निश्चय
6. जनसंग परित्याग।

साधक तत्त्वों के पालन से साधना में सिद्धि प्राप्त होने में सहायता मिलती है। इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि साधनाकाल में योगी को इन सभी साधक तत्त्वों का पालन करना चाहिए। इनका पालन करने से साधना में मज़बूती आती है।

यम व नियम का वर्णन

हठप्रदीपिका में दस प्रकार के यम व दस प्रकार के नियमों का भी वर्णन किया गया है। जिनका वर्णन इस प्रकार है

दस यमों का वर्णन

1. अहिंसा
2. सत्य
3. अस्तेय
4. ब्रह्मचर्य
5. क्षमा
6. धृति
7. दया
8. आर्जवं
9. मिताहार
10. शौच।

दस नियमों का वर्णन

1. तप
2. सन्तोष
3. आस्तिक्यम्
4. दान
5. ईश्वर पूजन
6. सिद्धान्त श्रवण
7. लज्जा
8. मति
9. तप
10. हवन।

आसन वर्णन

हठप्रदीपिका ने योग के चार अंग माने हैं। जिनमें से आसन को पहले स्थान पर रखा गया है। सर्वप्रथम आसन के लाभों का वर्णन करते हुए पन्द्रह (15) आसनों का वर्णन किया है। जिनके नाम इस प्रकार हैं

1. स्वस्तिकासन
2. गोमुखासन
3. वीरासन
4. कूर्मासन
5. कुक्कुटासन
6. उत्तानकूर्मासन
7. धनुरासन
8. मत्स्येन्द्रासन
9. पश्चिमोत्तानासन
10. मयूरासन
11. शवासन
12. सिद्धासन
13. पद्मासन
14. सिंहासन
15. भद्रासन।

प्रमुख अथवा श्रेष्ठ आसन

आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन व भद्रासन को प्रमुख चार आसनों की श्रेणी में रखते हुए, सिद्धासन को सबसे श्रेष्ठ आसन बताया है।

आहार की महत्ता

हठप्रदीपिका में स्वामी स्वात्माराम ने आहार के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इसका पहले ही अध्याय में वर्णन किया है। इसमें आहार को कई भागों में बाँटा है। जिसका वर्णन इस प्रकार है।

1. मिताहार योगियों का आहार
2. अपथ्य, निषेध या वर्जित आहार योगियों के लिए वर्जित आहार
3. पथ्य, या हितकर आहार योगी के ग्रहण करने योग्य।

द्वितीय उपदेश (दूसरा अध्याय)

द्वितीय अध्याय में मुख्य रूप से प्राणायाम व षट्कर्म की चर्चा की गई है। सर्वप्रथम नाड़ीशोधन का वर्णन करते हुए इसे प्राणायाम से पूर्व करने की सलाह दी गई है। पहले नाड़ी शोधन से साधक अपनी नाड़ियों में जमे मल की शुद्धि करे, उसके बाद ही वह बाकी के प्राणायाम करने के योग्य होता है।

षट्कर्म वर्णन

षट्कर्म का वर्णन करते हुए स्वामी स्वात्माराम कहते हैं कि जिस साधक के शरीर में चर्बी व कफ ज्यादा बढ़ा हुआ है, उन सभी को प्राणायाम से पूर्व षट्कर्मों का अभ्यास करना चाहिए। जिनके वात, पित्त व कफ आदि दोष सन्तुलित हैं, उन्हें षट्कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आगे षट्कर्म का उपदेश करते हुए कहा है।

1. धौति
2. बस्ति
3. नेति
4. त्राटक
5. नौलि
6. कपालभाति।

घेरण्ड संहिता में षट्कर्म के अन्तर्गत चौथे स्थान पर नौलि क्रिया का वर्णन किया गया है और पाँचवें स्थान पर त्राटक का। लेकिन हठप्रदीपिका में चौथे स्थान पर त्राटक और पाँचवें स्थान पर नौलि क्रिया को रखा गया है।

कुम्भक (प्राणायाम) वर्णन

हठप्रदीपिका में भी घेरंड संहिता की ही तरह आठ प्रकार के कुम्भकों (प्राणायामों) की चर्चा की गई है। जिनका वर्णन इस प्रकार है

1. सूर्यभेदी
2. उज्जायी
3. सीत्कारी
4. शीतली
5. भस्त्रिका
6. भ्रामरी
7. मूर्छा
8. प्लाविनी।

तृतीय उपदेश (तीसरा अध्याय)

तृतीय अध्याय में मुद्राओं का उपदेश दिया गया है। कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के लिए मुद्राओं के अभ्यास को बहुत उपयोगी माना है। कुल दस (10) मुद्राओं का वर्णन किया गया है

1. महामुद्रा
2. महाबंध
3. महावेध
4. खेचरी
5. उड्डियान बन्ध
6. मूलबंध
7. जालन्धर बन्ध
8. विपरीतकरणी
9. वज्रोली
10. शक्तिचालिनी।

इन सभी में खेचरी मुद्रा को सबसे श्रेष्ठ मुद्रा माना गया है।

चतुर्थ उपदेश (चौथा अध्याय)

चौथे अध्याय में नादानुसंधान की चर्चा की गई है। हठप्रदीपिका में नादानुसंधान को योग का अन्तिम अंग माना गया है। इसकी चार अवस्थाएँ होती हैं

1. आरम्भ अवस्था
2. घट अवस्था
3. परिचय अवस्था
4. निष्पत्ति अवस्था।

इन सभी अवस्थाओं में योगी की क्या अवस्था अथवा कैसे लक्षण होते हैं, उनका भी विस्तार से उल्लेख किया गया है।

इसी अध्याय में समाधि अथवा योग की विभिन्न परिभाषाओं का भी मुख्य रूप से वर्णन किया गया है, साथ ही समाधि के सोलह (16) पर्यायवाची शब्दों को भी प्रमुखता से बताया गया है। शरीर में स्थित बहत्तर हज़ार (72000) नाड़ियों का वर्णन भी यहीं पर किया गया है। इन सभी नाड़ियों में से सुषुम्ना नाड़ी को प्रमुख मानते हुए अन्य सभी को निरर्थक अर्थात् विशेष उपयोगी नहीं माना है। इसी अध्याय में लययोग के लक्षणों को भी बताया गया है।

पंचम उपदेश (पाँचवाँ अध्याय)

हठप्रदीपिका का यह सबसे छोटा अध्याय है। इसका मुख्य विषय यौगिक चिकित्सा है।

इस पाँचवें अध्याय में स्वामी स्वात्माराम ने ग़लत विधि से योग क्रिया करने पर उत्पन्न होने वाले रोगों के उपचार का उपदेश किया है। इसमें मुख्य रूप से वात, पित्त व कफ़ का शरीर में स्थान व उनके कार्यों का वर्णन किया गया है। इसके बाद वात, पित्त व कफ़ से होने

वाले रोगों की संख्या को बताते हुए कहा है कि वात के असंतुलित होने पर अस्सी (80) प्रकार के, पित्त के असंतुलित होने से चालीस (40) प्रकार के व कफ़ के असंतुलित होने से बीस (20) प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। आगे के श्लोकों में उन सभी दोषों को शान्त करने के उपायों व रोगों की यौगिक चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

२ प्रथम अध्याय

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या। विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥1

भावार्थ : हठयोग विद्या का उपदेश करने वाले आदिनाथ (नाथ सम्प्रदाय के जनक) को प्रणाम करते हैं। जिन्होंने सभी योग साधनाओं में सबसे श्रेष्ठ अर्थात राजयोग साधना को प्राप्त करने के लिए सीढ़ी के समान इस हठयोग विद्या का वर्णन किया है।

प्रणम्य श्री गुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना। केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥2

भावार्थ : योगी स्वात्माराम गुरुओं के गुरु श्री आदिनाथ अर्थात भगवान शिव को प्रणाम करते हुए बताते हैं कि हठयोग विद्या का उपदेश केवल राजयोग को प्राप्त करने के लिए किया गया है। अन्य किसी कार्य हेतु नहीं।

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम्। हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥3

भावार्थ : जो योग साधक अनेक प्रकार की भ्रान्ति व अंधकार में पड़कर राजयोग को नहीं जान पाते। उन सभी साधकों के ऊपर स्वामी स्वात्माराम अपनी कृपा दृष्टि रखते हुए उन्हें हठप्रदीपिका रूपी दीपक के माध्यम से उनका मार्ग प्रशस्त करने का काम कर रहे हैं।

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्याः विजानते। स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥4

भावार्थ : इस हठयोग विद्या को मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ आदि योगी अच्छी प्रकार से जानते हैं। या फिर उनके आशीर्वाद से इस हठयोग विद्या को स्वामी स्वात्माराम जानते हैं।

नाथ योगियों का परिचय

श्री आदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः। चौरङ्गीमीनगोरक्षविरुपाक्षविलेशयः ॥5

भावार्थ : श्री आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, शाबर, आनंदभैरव, चौरङ्गी, मीन, गोरक्ष, विरुपाक्ष, विलेशय।

मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिबुद्धश्च कन्थडिः। कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥6

भावार्थ : मन्थान, भैरव योगी, सिद्धि, बुद्ध, कन्थडि, कोरण्टक, सुरानन्द, सिद्धिपाद व चर्पटि।

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः। कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥7

भावार्थ : कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरञ्जन, कपाली, बिन्दुनाथ व काकचण्डीश्वर नाम के।

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोड़ाचोली च टिण्टिणिः। भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥8

भावार्थ : अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ाचोली, व टिण्टिणि, भानुकी, नारदेव, खण्ड तथा कापालिक।

इत्यादयो महासिद्धाः हठयोगप्रभावतः। खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥9

भावार्थ : इत्यादि (ऊपर वर्णित) महासिद्ध योगी हठयोग विद्या के प्रभाव से मृत्यु रूपी कालचक्र के भय को नष्ट करके मुक्त रूप से ब्रह्माण्ड में घूम रहे हैं। अर्थात ऊपर वर्णित सभी योगियों ने हठयोग साधना से मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अपने आप को जीवन मरण के बन्धन से मुक्त कर चुके हैं। इसलिए वह इस पूरे ब्रह्माण्ड में मुक्त रूप से कही भी घूमते रहते हैं।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः। अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥10

भावार्थ : जो व्यक्ति दुखों से अनन्त रूप से दुःखी हैं। उनके लिए यह हठयोग विद्या सुख रूपी आश्रय अर्थात घर की तरह है और जो योग साधक अनेक प्रकार की योग साधनाओं में लगे हुए हैं। उनके लिए यह हठयोग साधना आधारभूत कछुए के समान है। जिस प्रकार समुद्र मन्थन के दौरान कछुए को आधार बनाया गया था।ठीक उसी प्रकार यह हठयोग साधना भी अन्य सभी साधनाओं का आधार है।

गुप्त विद्या

हठविद्या परं गोप्या योगिनां सिद्धिमिच्छताम्। भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥11

भावार्थ : योग साधना में सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले योगियों के लिए हठयोग विद्या पूरी तरह से गोपनीय (छुपा कर रखने योग्य) है। गुप्त रखी हुई हठयोग विद्या ही साधक को बल अथवा शक्ति प्रदान करती है और सभी को इसके बारे में बताने से यह निष्क्रिय अर्थात शक्तिहीन हो जाती है।

विशेष : यहाँ पर इस योग विद्या को गुप्त अथवा छुपा कर रखने की बात का अर्थ यह है कि किसी अयोग्य व्यक्ति को इसका ज्ञान न हो जाए। जब कोई अयोग्य या दुष्ट व्यक्ति को किसी शक्ति का ज्ञान हो जाता है। तब इस बात का खतरा रहता है कि कहीं वह इसका गलत

प्रयोग न करदे। शक्ति तो शक्ति होती है। योग्य व सही व्यक्ति उसका प्रयोग सही कार्यों के लिए करता है। और अयोग्य या दुष्ट व्यक्ति उसका प्रयोग गलत कार्यों के लिए करता है। किसी अयोग्य या दुष्ट व्यक्ति को इसका ज्ञान न हो जाए। इसलिए इस योग विद्या को गुप्त रखने व योग्य व्यक्ति को ही इसका ज्ञान देने की बात कही गई है। इसका अर्थ यह बिलकुल भी नहीं है कि इस विद्या को पूर्ण रूप से गुप्त रखना है। ऐसे तो यह ज्ञान विलुप्त ही हो जाएगा।

योगी के लिए उपयुक्त स्थान

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरूपद्रवे। धनुः प्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते। एकान्ते मठिका मध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥12

भावार्थ इस श्लोक में योगी के लिए उपयुक्त स्थान का वर्णन करते हुए कहा है कि योगी साधक को ऐसे स्थान पर योगाभ्यास करना चाहिए जहाँ पर न्याय प्रिय राजा का शासन हो, जिस देश में धार्मिक गतिविधियाँ होती हों, जहाँ पर भिक्षा आसानी से मिल जाए, जो स्थान सभी प्रकार के उपद्रवों (जहाँ पर किसी तरह की अराजक घटनाएँ न घटती हों) से रहित हो। योगी को ऐसे देश में एक छोटी कुटिया बनाकर रहना चाहिए। उस कुटिया के चारों ओर धनुष की लम्बाई व चौड़ाई जितनी दूर तक किसी भी प्रकार का कंकड़ पत्थर, अग्नि व जल का स्रोत नहीं होना चाहिए।

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं। सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजन्तूज्झितम्। बह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितम्। प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैः हठाभ्यासिभिः ॥13

भावार्थ योगी की कुटिया का द्वार (दरवाजा) छोटा हो, उसमें किसी तरह का बिल और गड्ढा न हो, उस स्थान पर भूमि ऊँची नीची नहीं होनी चाहिए अर्थात समतल हो, न ही ज्यादा बड़ी हो, गोबर से अच्छी प्रकार से लिपी हो, पूरी तरह से साफ हो, सभी प्रकार के जीव जन्तुओं से रहित हो, कुटिया के बाहर एक मण्डप अर्थात चबूतरा व कुआँ हो, चारों ओर से दीवार से घिरी हो, यह सिद्ध योगियों के आवास अर्थात उनकी कुटिया के लक्षण बताये गए हैं।

एवं विधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः। गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव सदाभ्यसेत् ॥१४

भावार्थ योगी को ऊपर वर्णित कुटिया में रहकर सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर सदा अपने गुरु द्वारा बताए गए योगमार्ग का अच्छी प्रकार से अभ्यास करना चाहिए।

बाधक तत्त्व

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः। जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥15

भावार्थ : योग साधना काल में कुछ ऐसे अवगुण या कुछ बुरी आदतें ऐसी होती हैं जो साधक को योगमार्ग में आगे बढ़ने से रोकती हैं। ऐसे अवगुणों या बुरी आदतों को योग में बाधक तत्त्व कहते हैं। अर्थात जो साधक को योग मार्ग में अग्रसर होने में किसी प्रकार की हानि पहुँचाए उन्हें बाधक तत्त्व कहते हैं। हठप्रदीपिका के इस श्लोक में स्वामी स्वात्माराम ने छः (6) बाधक तत्त्व बताए हैं।

अत्याहार / अत्यधिक भोजन करना

प्रयास / अत्यधिक परिश्रम करना

प्रजल्प / अत्यधिक बोलना

नियमाग्रह / अत्यधिक आग्रह करवाना

जनसंग / अत्यधिक लोगों से सम्पर्क

लौल्यं / चंचलता, मन का अत्यधिक चंचल होना।

अत्याहार / अत्यधिक भोजन करनाः अत्याहार अर्थात अधिक भोजन करने से योग मार्ग में बाधा उत्पन्न होती है। अत्याहार को स्वामी स्वात्माराम ने पहला बाधक तत्त्व माना है। अधिक भोजन करने से व्यक्ति का पाचन संस्थान खराब हो जाता है। जिससे उसे अपच व मोटापा आदि पाचन तंत्र के रोग हो जाते हैं। दूसरा ज्यादा भोजन करने से व्यक्ति को आलस्य आता है। साथ ही अत्यधिक भोजन करने से भोजन के प्रति राग हो जाता है। राग की उत्पत्ति होने से साधक योग साधना में अग्रसर नही हो पाता है। अतः अत्याहार योग मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाला तत्त्व है। एक योगी साधक के साथ साथ अन्य सामान्य व्यक्तियों को भी अत्यधिक भोजन करने से बचना चाहिए। अत्यधिक भोजन न करना सभी के लिए हितकर है।

प्रयास / अत्यधिक परिश्रम करना : अत्यधिक प्रयास या अत्यधिक परिश्रम करने से भी योग मार्ग में बाधा उत्पन्न होती है। अत्यधिक परिश्रम का अर्थ ज्यादा शारीरिक श्रम अथवा मेहनत करना होता है। ज्यादा शारीरिक श्रम करने से शरीर की शक्ति ज्यादा मात्रा में व्यय होती है। और यदि शरीर की शक्ति किसी अन्य कार्य में ज्यादा खर्च होती है तो योग साधना के समय साधक में आलस्य आना शुरू हो

जाता है। जिससे वह पूरी ऊर्जा के साथ योग साधना नही कर पाता है। इसलिए एक योगी को अनावश्यक शारीरिक श्रम से बचना चाहिए।

प्रजल्प / अत्यधिक बोलना : प्रजल्प अर्थात अत्यधिक बोलना भी योग मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाला बाधक तत्त्व है। जो व्यक्ति सारा दिन बक बक (बकवास) करते रहते हैं। उनका मन कभी भी स्थिर नही रह सकता। साथ ही अत्यधिक बोलने से शरीर की ऊर्जा भी ज्यादा खर्च होती है। साधक की जो ऊर्जा योग साधना में लगनी चाहिए वह अत्यधिक बोलने में व्यर्थ हो जाती है। इसके अलावा अधिक बोलने से व्यक्ति की बात की महत्ता (उपयोगिता) भी कम हो जाती है। इसलिए योगी साधक बेकार की बकवास से बचना चाहिए।

नियमाग्रह / अत्यधिक आग्रह करवाना : वह सिद्धान्त या दिशा निर्देश जिनका पालन किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है वह नियम कहलाते हैं। इन आवश्यक दिशा निर्देशों के पालन से ही हम अपने विशेष प्रयोजन सिद्ध करते हैं। लेकिन कुछ व्यक्ति इन नियमों का पालन करने में कुछ ज्यादा ही कठोर हो जाते हैं। वह यह मानने लगते हैं कि इसी नियम का पालन किया जाना चाहिए। अन्य किसी नियम का नहीं। इससे वह एक ही नियम के प्रति ज्यादा कठोर हो जाते हैं। इसे एक प्रकार का हठ भी कह सकते हैं। जिस प्रकार एक बच्चा किसी खिलौने के लिए हठ कर लेता है। और उसके न मिलने की स्थिति में वह काफी उत्पात भी मचाता है और रुष्ट भी हो जाता है। अतः एक योग साधक को इस प्रकार के हठ अर्थात नियमाग्रह से बचना चाहिए।

जनसंग / अत्यधिक लोगों से सम्पर्क : जनसंग अर्थात ज्यादा व्यक्तियों के सम्पर्क में रहने से भी योग मार्ग में सिद्धि प्राप्त नही होती है। जनसंग को योग मार्ग में बाधक माना है। इसलिए एक योग साधक को जनसंग का परित्याग अर्थात करना चाहिए। जो योगी साधक ज्यादा लोगों के सम्पर्क में रहता है। वह योग मार्ग में आगे नही बढ़ पाता है। क्योंकि सभी व्यक्ति अलग अलग स्वभाव वाले होते हैं। उनमें कुछ सात्विक प्रवृत्ति के होते हैं तो कुछ राजसिक व तामसिक प्रवृत्ति के होते हैं। सात्विक प्रवृत्ति के व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने में कोई नुकसान नही होता है। लेकिन राजसिक व तामसिक प्रवृत्ति के लोगों से सम्पर्क रखने से साधना में विघ्न पड़ता है। इसलिए योगी को अत्यधिक लोगों के सम्पर्क से बचना चाहिए। योग मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है।

लौल्यं / चंचलता, मन का अत्यधिक चंचल होना : मन की चंचल प्रवृत्ति को भी योग में बाधक माना गया है। जब व्यक्ति का मन चंचल होता है तो उसकी किसी भी कार्य में एकाग्रता नही बन पाती है। और एकाग्रता के अभाव से वह अपने किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक नही कर पाता है। किसी भी कार्य की सफलता और असफलता के बीच एकाग्रता का ही अन्तर होता है। किसी कार्य को करते हुए यदि मन एकाग्र है तो वह कार्य निश्चित तौर से सफल होता है। और कार्य को करते हुए यदि मन में एकाग्रता नही है अथवा एकाग्रता का अभाव है तो व्यक्ति उस में कार्य सफल नही हो पाएगा। मन की चंचलता योग मार्ग का बहुत बड़ा बाधक तत्त्व है। इसलिए योग की सिद्धि के लिए मन की चंचलता को दूर करना अति आवश्यक है।

साधक तत्त्व

उत्साहात् साहसाद्धैर्यात्ततत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्। जनसङ्गपरित्यगात् षड्भिर्योग: प्रसिद्ध्यति ॥16

भावार्थ : योग साधना काल में कुछ गुण या कुछ अच्छी आदतें ऐसी होती हैं जो साधक को योगमार्ग में आगे बढ़ने के लिए सहायता प्रदान करती हैं। ऐसे गुणों या अच्छी आदतों को योग में साधक तत्त्व कहते हैं। अर्थात जो साधक को योग मार्ग में अग्रसर करने में किसी भी प्रकार का लाभ पहुँचाए उन्हें साधक तत्त्व कहते हैं। इस श्लोक में छः (6) साधक तत्त्व बताएं हैं।

उत्साह

साहस

धैर्य

तत्त्व ज्ञान

दृढ़ निश्चय

जनसंग परित्याग

उत्साह : स्वामी स्वात्माराम ने उत्साह को प्रथम साधक तत्त्व माना है। उत्साह का अर्थ है हिम्मत या होंसला। उत्साह सबसे महत्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि उत्साह ही वह साधन है जिससे बाकी के सभी साधनों का पालन किया जा सकता है। उत्साह के न होने से कोई भी व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकता। उत्साह है तो आप पहाड़ की चोटी को छू सकते हैं और यदि उत्साह नही है तो आपका जमीन पर चलना भी कठिन है।

जब कोई भी साधक उत्साह अर्थात होंसले से साधना की शुरुआत करता है तो वह साधना में निरन्तर सफलता प्राप्त करता है।

साहस : साहस को दूसरा साधक तत्त्व माना गया है। साहस के बिना आज तक कोई भी महान कार्य पूरा नही हुआ है। उत्साह से ही साहस का जन्म होता है। साधना में साहस का होना अनिवार्य है। साहस के साथ साधना करने से विश्वास बढ़ता है। अतः योग साधना में साहस का होना अति आवश्यक है।

धैर्य : धैर्य का अर्थ है सब्र करना या उतावलापन का न होना। धैर्य की आवश्यकता केवल योग साधना में ही नही बल्कि जिन्दगी के हर मोड़ पर होती है। बिना धैर्य के कोई भी व्यक्ति जीवन में अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकता। धैर्य वो चाबी है जो सभी बन्द दरवाजों को खोलती है। बहुत बार देखने में आता है कि जब नया योग साधक योग साधना प्रारम्भ करते ही यह चाहता है कि मुझे अति शीघ्र सफलता मिल जाए। यह जो उतावलापन है यह योग मार्ग में बाधक है। प्रत्येक साधक को सब्र के साथ योग साधना में अग्रसर होना चाहिए। कहा भी है कि “सब्र का फल मीठा होता है”। अतः धैर्य भी योग साधना की सिद्धि में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

तत्त्व ज्ञान : तत्त्व ज्ञान का अर्थ है किसी भी वस्तु या पदार्थ का यथार्थ अर्थात सही ज्ञान होना। जब तक हमें किसी भी वस्तु या पदार्थ का सही सही ज्ञान या उसकी वास्तविक जानकारी नही होती है। तब तक हम उनके स्वरूप को नही समझ सकते। इसलिए किसी भी मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिए सबसे पहले हमें उस पदार्थ या वस्तु की सही जानकारी होनी चाहिए। यदि हमें किसी पदार्थ का वास्तविक ज्ञान नही है तो वह एक प्रकार का अस्मिता नामक क्लेश कहलाता है। और क्लेश हमें योग मार्ग से दूर हटाने का कार्य करते हैं। इसलिए योग साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए तत्त्व ज्ञान का होना अनिवार्य है।

दृढ़ निश्चय : दृढ़ निश्चय एक ऐसा शब्द है जिसे सुनते ही व्यक्ति में आत्म विश्वास भर जाता है। दृढ़ निश्चय का अर्थ है किसी भी कार्य को करने के लिए संकल्पित होना। जब हम किसी काम को करने के लिए वचन बद्ध होना या एक ही निश्चय के प्रति समर्पित होना दृढ़ निश्चय कहलाता है। बहुत सारे व्यक्तियों का मानना है कि एक मार्ग में यदि सफलता न मिले तो दूसरा विकल्प अपना लेना चाहिए। इस प्रकार कार्य के न होने की अवस्था में दूसरे विकल्प को अपनाना आपके दृढ़ निश्चय और विश्वास की कमी को दर्शाता है। जब व्यक्ति किसी विकल्प को अपनाता है तो उसका कोई भी कार्य पूर्ण नही हो पाता। इसलिए कार्य की सफलता के लिए दृढ़ निश्चय का होना अति आवश्यक है। सफलता और असफलता के बीच कुछ है तो वह दृढ़ निश्चय ही है। जीवन में दृढ़ निश्चय का होना आपकी सफलता को पक्का करता है। अतः योग साधक को दृढ़ निश्चय वाला होना चाहिए।

जनसंग परित्याग : जनसंग का अर्थ है बहुत सारे व्यक्तियों से सम्पर्क बनाना। जनसंग को योग मार्ग में बाधक माना है। इसलिए एक योग साधक को जनसंग का परित्याग अर्थात करना चाहिए। जो योगी साधक ज्यादा लोगों के सम्पर्क में रहता है। वह योग मार्ग में आगे नही बढ़ पाता है। क्योंकि सभी व्यक्ति अलग अलग स्वभाव वाले होते हैं। उनमें कुछ सात्विक प्रवृत्ति के होते हैं तो कुछ राजसिक व तामसिक प्रवृत्ति के होते हैं। सात्विक प्रवृत्ति के व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने में कोई नुकसान नही होता है। लेकिन राजसिक व तामसिक प्रवृत्ति के लोगों से सम्पर्क रखने से साधना में विघ्न पड़ता है। इसलिए योगी को अत्यधिक लोगों के सम्पर्क से बचना चाहिए। योग मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है।

दस यम

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः। दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमाः दश॥१७

भावार्थ : इस श्लोक में यम के दस भेदों (प्रकार) का वर्णन किया गया है। जो इस प्रकार हैं : 1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय, 4. ब्रह्मचर्य, 5. क्षमा, 6. धृति, 7. दया, 8. आर्जवं, 9. मिताहार, 10. शौच।

इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :

अहिंसा : किसी भी जीव अथवा प्राणी को मन, वचन व कर्म से किसी भी प्रकार का कष्ट या पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा कहलाती है।

सत्य : जैसा देखा, सुना व अनुभव किया गया है। उसे वैसा ही बताना। उसमें किसी भी प्रकार की मिलावट न करना। अथवा किसी को किसी भी प्रकार का धोखा न देना।

अस्तेय : किसी दूसरे की वस्तु अथवा पदार्थ को बिना उसकी अनुमति के न लेना अस्तेय कहलाता है। अर्थात चोरी न करना।

ब्रह्मचर्य : इन्द्रियों का संयम करना और चित्त को ब्रह्म में लगाना ब्रह्मचर्य कहलाता है।

क्षमा : किसी द्वारा गलती किए जाने पर उसे माफ करने की भावना क्षमा कहलाती है।

धृति : विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य बनाए रखना धृति कहलाती है। अर्थात संकट के समय में भी अपने आप को संतुलित रखना।

दया : सभी प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना दया कहलाती है। किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भावना न रखना।

आर्जवं : आर्जवं का अर्थ होता है कोमलता। साधक को नियमों के पालन में कठोरता का त्याग करके कोमलता का पालन करना चाहिए।

मिताहार : मिताहार का अर्थ है आहार में संयम का पालन करना। योगी को योग साधना के अनुकूल आहार ही लेना चाहिए। मिताहार का विस्तृत वर्णन किया जाएगा।
शौच : शौच का अर्थ होता है शुद्धि। यहाँ पर शारीरिक व मानसिक शुद्धि की बात कही गई है।

दस नियम

तप: सन्तोष मास्तिक्यं दान मीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्री: मतिश्च तपोहुतम्। नियमा: दश सम्प्रोक्ता: योगशास्त्रविशारदै: ॥18
भावार्थ : अब दस नियमों का वर्णन किया गया है। जो इस प्रकार हैं : 1. तप, 2. सन्तोष, 3. आस्तिक्य, 4. दान, 5. ईश्वर पूजन, 6. सिद्धान्त श्रवण, 7. लज्जा, 8. तप, 9. मति, 10. हवन।
इन सभी नियमों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :
तप : सभी प्रकार के द्वन्द्वों अर्थात भूख प्यास, सर्दी गर्मी, मान अपमान, लाभ हानि आदि को सहन करना या अपने आप को सम अवस्था में रखना तप कहलाता है।
सन्तोष : घनघोर अथवा पूर्ण रूप से पुरुषार्थ या मेहनत करने के बाद जो फल मिले उसी में सन्तुष्ट रहना सन्तोष कहलाता है।
आस्तिक्य : आस्तिक्य का अर्थ होता है ईश्वर में आस्था रखना। इसे दूसरे अर्थ में आस्तिक भी कहा जाता है।
दान : जरूरतमंद को उसकी जरूरत की वस्तु देना दान कहलाता है। वह दान धन, वस्त्र, किताबें, व खाद्य सामग्री आदि कुछ भी हो सकता है।
ईश्वर पूजन : अपने आराध्य देवता की पूजा अर्चना करने को ईश्वर पूजन कहते हैं।
सिद्धान्त श्रवण : सिद्धान्त वाक्यों को सुनना सिद्धान्त श्रवण कहते हैं। इसमें मोक्ष कारक ग्रन्थ व गुरु उपदेश शामिल होते हैं। इसका दूसरा नाम स्वाध्याय भी है।
लज्जा : लज्जा का अर्थ होता है शर्म करना। जिन कार्यों को करने में लज्जा का अनुभव होता हो योगी को उन अहितकारी कार्यों को करने से बचना चाहिए।
मति : मति का अर्थ होता है बुद्धि। बुद्धि ही वह पदार्थ है जिससे द्वारा हमें सही व गलत के बीच का फर्क पता चलता है।
तप : यहाँ पर इस सूत्र में तप का दोबारा प्रयोग किया गया है। तप का सामान्य अर्थ तो वही होता है जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं।
विशेष : यहाँ पर तप के सम्बंध में दो बातें हो सकती हैं। एक तो यह कि यहाँ पर तप का अर्थ योग साधना के दौरान की जाने वाली तपस्या हो सकता है। दूसरा यह कि हो सकता है यहाँ पर तप की बजाय दम शब्द का प्रयोग किया गया हो। दम का अर्थ है अपनी इन्द्रियों का दमन करना। चूंकि श्लोक में तप शब्द का ही प्रयोग किया गया है। तो यहाँ पर तप का अर्थ तपस्या से भी लिया जा सकता है। यह मेरा स्वयं का मत है।
हवन : हवन का अर्थ है यज्ञ करना। साधक के सभी कर्म यज्ञीय होने चाहिए। जिस प्रकार हवन सभी के हित के लिए किया जाता है। उसी प्रकार योगी के सभी कर्म उत्तम होने चाहिए।

आसन वर्णन

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते। कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम् ॥19
भावार्थ : स्वामी स्वात्माराम आसन को हठयोग के पहले अंग के रूप में मानते हैं। इसलिए सबसे पहले उसी का वर्णन करते हैं। आसन के वर्णन के साथ ही उससे मिलने वाले लाभ के बारे में बताते हुए कहते हैं कि आसन करने से स्थिरता, आरोग्यता (रोगों का अभाव) व शरीर के सभी अंगों में हल्कापन आता है।
विशेष : इस श्लोक में आसन करने से मिलने वाले मुख्य तीन लाभों का वर्णन किया गया है। जिनमें स्थिरता, आरोग्यता व अंगों में हल्कापन शामिल हैं।
वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभि:। अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ॥20
भावार्थ : ऋषि वसिष्ठ आदि व योगी मत्स्येंद्रनाथ आदि योगियों द्वारा मान्यता प्राप्त कुछ आसनों का वर्णन यहाँ पर मेरे द्वारा किया जा रहा है।
विशेष : यहाँ पर योगी स्वात्माराम ने अपने से पूर्व में हुए ऋषियों व योगियों द्वारा बताए गए आसनों को आधार रूप में स्वीकार किया है। इससे भी यह पता चलता है कि हठयोग साधना मुख्य रूप से गुरु शिष्य परम्परा पर ही आधारित है।

आसन प्रारम्भ

स्वस्तिकासन

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे। ऋजुकाय: समासीन: स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते ॥21

भावार्थ : दोनों पैरों के तलवों (पैर के सबसे नीचे का भाग) को एक दूसरे पैर अर्थात बायें पैर के तलवे को दायीं पिण्डली व जांघ के बीच में और दायें पैर के तलवे को बायें पैर की पिण्डली व जंघा के बीच में स्थापित करके सीधा व तनाव रहित होकर बैठना स्वस्तिक आसन कहलाता है।

गोमुखासन

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति: ॥22

भावार्थ : दायें पैर की एड़ी को पीछे अर्थात बायें नितम्ब के पास व बायें पैर की एड़ी को दायें नितम्ब के पास स्थापित करके दोनों घुटनों की आकृति गाय के मुहँ के समान बना लेना गोमुखासन कहलाता है। इसमें दोनों घुटने एक दूसरे के ऊपर आ जाते हैं।

विशेष : इस आसन को एक तरफ से करने के बाद दोनों पावों की स्थिति बदल कर इसे दूसरी तरफ से भी करना चाहिए। तभी यह आसन पूर्ण होता है। अन्यथा नहीं।

वीरासन

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुणि स्थिरम्। इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥23

भावार्थ : तथा इसी तरह एक पैर को उसकी विपरीत जंघा पर रखें व दूसरे पैर को पहले वाली जंघा के स्थापित करें। यह विधि वीरासन कहलाती है।

कूर्मासन

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहित:। कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदु: ॥24

भावार्थ : अपनी दोनों एड़ियों को विपरीत क्रम (दोनों पैरों को एक दूसरे के ऊपर से अर्थात क्रॉस करते हुए) में गुदा प्रदेश के नीचे रखते हुए गुदा प्रदेश को दबायें। इसमें बायीं एड़ी दायें नितम्ब के पास व बायीं एड़ी दायें नितम्ब के पास स्थित होगी। योग के विद्वान इस आसन को कूर्मासन कहते हैं।

कुक्कटासन

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ। निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कटासनम् ॥25

भावार्थ : पद्मासन लगाकर (बायें पैर को दायीं जंघा पर रखें। दायें पैर को बायीं जंघा पर रखना व कमर गर्दन को सीधा रखना पद्मासन कहलाता है) दोनों पैरों की जंघा व पिण्डलियों के बीच से अपने दोनों हाथों को जमीन पर टिकायें और अपने शरीर को हाथों के सहारे भूमि से ऊपर की ओर अर्थात आसमान में उठाकर वहीं पर स्थिर कर देना कुक्कुटासन कहलाता है।

उत्तानकूर्मासन

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बन्ध्य कन्धराम्। भवेत् कूर्मवदुत्तान: एतदुत्तानकूर्मकम् ॥26

भावार्थ : अपने शरीर को कुक्कुटासन की ही स्थिति में रखते हुए दोनों हाथों द्वारा गर्दन को पकड़कर कछुए की तरह छाती को ऊपर की ओर करके चित लेट जाने को उत्तानकूर्मासन कहते हैं।

धनुरासन

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि। धनुराकर्षणं कुर्यात् धनुरासनमुच्यते ॥27

भावार्थ : पहले भूमि (योग मैट) पर पेट के बल लेट जाएँ। फिर पैरों के दोनों अंगूठों को दोनों हाथों से पकड़कर धुनष की भाँति अपने दोनों कानों के पास खींच कर लाना धनुरासन कहलाता है।

मतस्येन्द्र आसन

वामोरुमूलार्पित दक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम्। प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्ग: श्री मत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥28

भावार्थ : बायीं जंघा के मूल भाग (बीच में) पर दायें पैर को रखें। अब अपने बायें पैर को अपने दाहिने पैर के घुटने के पास रखते हुए घुटने (बायें) को सीधा रखें। इसके बाद बायें हाथ को घुमाते हुए बायें पैर के पंजे को ही पकड़े। शरीर को पूरी तरह से घुमाते हुए दाहिने हाथ को पीछे दायीं ओर ही ले जाएं। यह श्री मत्स्येंद्रनाथ द्वारा बताया गया मत्स्येंद्र आसन है।

मत्स्येंद्र आसन के लाभ

मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम्। अभ्यासत: कुण्डलिनीप्रबोधं चन्द्र स्थिरत्वं च ददाति पुंसाम्॥29

भावार्थ : मत्स्येंद्र आसन का अभ्यास करने से अभ्यासी साधकों की जठराग्नि (पाचन तंत्र) प्रदीप्त (मजबूत या तेज) होती है। जो रोगों के समूह या सभी रोगों को खत्म करने के लिए एक अस्त्र की तरह काम करती है। जिस प्रकार हम अस्त्र से अपने शत्रु को खत्म करते हैं। ठीक उसी प्रकार प्रदीप्त हुई जठराग्नि रोगों के पूरे समूह को नष्ट करने का काम करती है। साथ ही इसके अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति भी जागृत होती है और चंद्रमण्डल से निकलने वाला रस भी लगातार प्रवाहित होते हुए शरीर में ही स्थिर होता है। अर्थात नष्ट नहीं होता।

पश्चिमोतान आसन

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा। जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहु: ॥30

भावार्थ : अपने दोनों पैरों को भूमि पर अपने सामने की ओर डण्डे के समान फैलाकर दोनों पैरों के पंजों को पकड़े। इसके बाद अपने माथे को घुटनों से आगे (जहाँ तक सम्भव हो) लेकर जाएं और वहीं पर उसे स्थिर कर दें। इस विधि को ही पश्चिमतान अथवा पश्चिमोत्तान आसन कहते हैं।

विशेष : बहुत सारे योग शिक्षकों का मानना है कि हमारा माथा घुटनों के ऊपर लगना चाहिए। लेकिन यह बात पूरी तरह से अवैज्ञानिक है। क्योंकि यदि हम अपने माथे को घुटनों से लगाने का प्रयास करेंगे तो हमारी कमर का ऊपरी हिस्सा ऊपर की ओर उठा रह जाएगा। जिससे हमारा पेट हमारी जंघाओं से नही लग पाएगा और ऐसा न होने की स्थिति में एक तो हम इस आसन का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं कर पाएंगे और दूसरा हमारी कमर की आकृति बिगड़ जाएगी। इसलिए हमारा माथा घुटनों की बजाय घुटनों से आगे जाना चाहिए। घुटनों पर हमारी छाती आनी चाहिए। यह पश्चिमोत्तान आसन की पूर्ण वैज्ञानिक विधि है।

पश्चिमोतान आसन का लाभ

इति पश्चिमतान मासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति। उदरं जठरानलस्य कुर्यादुदरे काश्यमरोगतां च पुंसाम् ॥31

भावार्थ : इन सभी आसनों (इससे पूर्व में जिन आसनों का वर्णन किया गया है) में पश्चिमत्तान आसन सबसे अग्रणीय या मुख्य आसन है। इसके अभ्यास से साधक का प्राण मेरुदण्ड के मध्य में अर्थात सुषुम्ना नाड़ी में पहुँचता है। पेट में स्थित जठराग्नि तीव्र अर्थात मजबूत होती है। इसके अतिरिक्त यह आसन पेट की बढ़ी हुई चर्बी को कम करता है। साथ ही शरीर में आरोग्यता आने से साधक निरोगी हो जाता है।

मयूरासन विधि

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्व:। उच्चासनो दण्डवदुत्थित: स्यान्मायूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥32

भावार्थ : दोनों हाथों की हथेलियों को जमीन पर इस प्रकार रखें कि अंगुलियाँ पैरों की तरफ रहें। अब अपनी नाभि के दोनों तरफ अपनी कुहनियों को स्थिर करके शरीर को आगे व पीछे दोनों ही तरफ से डन्डे के समान सीधा करते हुए ऊपर की ओर उठाएं और शरीर को इसी अवस्था में रखें। इस प्रकार शरीर का पूरा भार दोनों कुहनियों पर रखते हुए सन्तुलन बनाने को मयूरासन कहते हैं।

विशेष : इसमें शरीर की आकृति मोर के समान होने से इसे मयूरासन कहा जाता है।

मयूरासन के लाभ

हरतिसकलरोगानाशु गुल्मोदरादीन् अभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम्। बहु कदशनभुक्तं भस्मकुर्यादशेषम् जनयति जठराग्निं जारयेत् कालकूटम् ॥33

भावार्थ : मयूरासन का अभ्यास करने से पेट में वायु गोला बनना आदि समस्त पेट के रोग शीघ्रता से समाप्त हो जाते हैं। साथ ही यह पेट के अन्य अवशिष्ट पदार्थों को भी दूर करता है। इससे साधक की जठराग्नि इतनी प्रबल हो जाती है कि वह अधिक खाये गए भोजन को भी आसानी से पचा देती है। इसके अलावा अधिक भोजन या अपथ्य भोजन करने से शरीर में बनने वाला महाविष भी इस आसन के प्रभाव से भस्म अर्थात खत्म हो जाता है।

शवासन की विधि व लाभ

उत्तानं शववद् भूमौ शयनं तच्छवासनम्। शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ॥34

भावार्थ : छाती व पेट को ऊपर की तरफ रखते हुए भूमि पर शव के समान लेट जाना शवासन कहलाता है। इस अवस्था में शरीर में किसी भी प्रकार की कोई हलचल नहीं होनी चाहिए। शरीर बिलकुल मुर्दे की भाँति शान्त व हलचल रहित होना चाहिए। शवासन करने से शरीर को पूरी तरह से आराम मिलता है। जिससे शरीर की थकान दूर होती है अथवा शारिरिक शान्ति मिलती है। साथ ही चित्त को भी आराम मिलने से मानसिक शान्ति की भी प्राप्ति होती है।

प्रमुख चार आसन

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि वै। तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥35

भावार्थ : भगवान शिव ने कुल चौरासी (84) आसनों का वर्णन किया है। यहाँ पर मैं उन सभी आसनों के सार कहे जाने वाले मुख्य चार आसनों का वर्णन कर रहा हूँ।

विशेष : यहाँ पर स्वामी स्वात्माराम ने आदिनाथ भगवान शिव द्वारा बताये गए चौरासी आसनों में से चार आसनों को प्रमुख माना है।

चार प्रमुख आसनों के नाम

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्। श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत् सिद्धासने सदा ॥36

भावार्थ : सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन यह चार आसन सभी आसनों में श्रेष्ठ हैं। इन चारों में से भी सिद्धासन को श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए कहा गया है कि साधक को सदा सिद्धासन में ही सुख पूर्वक बैठकर योग साधना करनी चाहिए।

सिद्धासन की विधि

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत् मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्। स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशापश्येद् भ्रुवोरन्तरम् ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥37

भावार्थ :एक पैर की एड़ी को योनिस्थान में (अण्डकोषों के ठीक नीचे वाले भाग में) लगाकर दूसरे पैर को शिश्न के (लिंग) ऊपर मजबूती से रखें। इसके बाद अपनी ठुडी को वक्षस्थल अर्थात छाती पर टिकाकर, इन्द्रियों का संयम करते हुए अपनी दोनों आँखों को भ्रुमध्य (दोनों भौहों) के बीच में स्थित करें अर्थात वहाँ पर देखें। यह मोक्षद्वार का भेदन करके साधक को मोक्ष प्राप्त करवाने वाला सिद्धासन कहलाता है।

दूसरे मत के अनुसार सिद्धासन विधि

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि। गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥38

भावार्थ : बायें टखने को लिंग के ऊपरी भाग पर रखकर दूसरे टखने को उसके ऊपर टिकायें। यह स्थिति सिद्धासन कहलाती है।

विशेष : यहाँ पर दूसरे योगियों के मत के अनुसार सिद्धासन की दूसरी विधि बताई गई है। इससे पहले श्लोक संख्या 37 में गुरु मत्स्येंद्रनाथ द्वारा बताई गई विधि का वर्णन किया गया है।

सिद्धासन के अन्य नाम

एतत् सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः। मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥39

भावार्थ : ऊपर वर्णित विधियों को सिद्धासन कहते हैं। कुछ योग आचार्य इसे (सिद्धासन की विधि को) वज्रासन मानते हैं, कुछ मुक्तासन तो कुछ इसे गुप्तासन कहते हैं।

विशेष : इस श्लोक में पता चलता है कि सिद्धासन को तीन अन्य नामों से भी जाना जाता है। जो क्रमशः वज्रासन, मुक्तासन व गुप्तासन हैं।

सिद्धासन की श्रेष्ठता

यमेष्विव मिताहार अहिंसा नियमेष्विव। मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धा: सिद्धासनं विदुः ॥

भावार्थ : जिस प्रकार सभी यमों में मिताहार को व नियमों में अहिंसा को श्रेष्ठ माना है। ठीक उसी प्रकार योगियों ने सभी आसनों में सिद्धासन को ही मुख्य अर्थात श्रेष्ठ माना है।

विशेष : यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि इस श्लोक में यमों में मिताहार को श्रेष्ठ व नियमों में अहिंसा को श्रेष्ठ मानने की बात कही है। यमों के अंतर्गत मिताहार को श्रेष्ठ मानना बिलकुल सही है। लेकिन अहिंसा को नियमों में श्रेष्ठ कहना न्याय संगत नहीं है क्योंकि अहिंसा को यमों के अंतर्गत रखा गया है। नियमों में अहिंसा का वर्णन ही नहीं किया गया है। यहाँ पर इस श्लोक की विश्वसनीयता पर सन्देह होता है।

इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इस ग्रन्थ को लिखने में सभी लेखक एकमत नहीं हैं। यदि आप हठप्रदीपिका पर लिखे गए सभी लेखकों के भाष्यों को पढ़ेंगे तो आपको पता चलेगा कि बहुत सारे भाष्यकारों ने तो इसमें यम व नियम को माना ही नहीं है। लेकिन वहीं हम यू० जी० सी० नेट व क्यू० सी० आई० सिलेबस में देखें तो हठप्रदीपिका के अनुसार यम व नियम को पूछा जाता है। इससे इसके यम व नियम से सम्बंधित बात को प्रमाणिकता मिलती है।

उपर्युक्त कारण से हम इस बात से तो सहमत हैं कि हठप्रदीपिका में यम व नियम का वर्णन किया गया है। लेकिन इस श्लोक में अहिंसा को नियम के अंतर्गत मानने वाली बात पर सहमति नहीं हो सकती। क्योंकि अहिंसा को यम के पहले अंग के रूप में माना गया है। नियम में तो इसका कहीं पर वर्णन ही नहीं है।

दूसरा यदि हम उपनिषदों में जाबालदर्शन उपनिषद को पढ़ते हैं तो उसमें भी दस यम व नियम की बात कही गई है। लेकिन वहाँ पर भी अहिंसा को यम में ही माना गया है। नियम के अंतर्गत नहीं।

निष्कर्ष : हठयोग के सभी ग्रन्थों, योगदर्शन व उपनिषदों का अध्ययन करने के बाद हमें पता चलता है कि सभी योग आचार्यों ने अहिंसा को यमों के अंतर्गत ही रखा है। यहाँ तक की हठप्रदीपिका में भी अहिंसा को यम में ही माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि अहिंसा यम का ही भाग है। न कि नियम का।

लेकिन हठप्रदीपिका के श्लोक संख्या चालीस (40) में अहिंसा को नियम में बताया गया है। जो किसी भी प्रकार से तर्कपूर्ण नहीं लगता। अतः हो सकता है इस श्लोक को लिखने में कहीं पर किसी प्रकार की त्रुटि हुई हो। क्योंकि इस श्लोक का कहीं भी अन्य किसी श्लोक के साथ कोई सम्बंध नहीं दिखता। इसलिए यह श्लोक योग के विद्वानों की चर्चा का विषय है। जिस पर एक सकारात्मक चर्चा होनी चाहिए। तभी इसका कोई उचित समाधान निकल सकता है।

सिद्धासन से बहतर हजार (72000) नाड़ियों की शुद्धि

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्। द्वासप्ततिसहस्राणां नाड़ीनां मलशोधनम् ॥41

भावार्थ : उन चौरासी आसनों में से साधक को सदा सिद्धासन का ही अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से शरीर में स्थित सभी बहतर हजार (72000) नाड़ियों के मल की शुद्धि हो जाती है।

विशेष : इस श्लोक से हमें यह पता चलता है कि स्वामी स्वात्माराम ने हठप्रदीपिका में नाडियों की कुल संख्या बहतर हजार (72000) मानी है।

बारह (12) वर्षों में सिद्धासन की सिद्धि

आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरसम्। सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्। किमन्यैर्बहुभि: पीठै: सिद्धे सिद्धासने सति॥42

भावार्थ : आत्मा का अध्ययन अथवा चिन्तन करने वाला, मिताहार (आहार में संयम) करने वाला योगी साधक निरन्तर बारह (12) वर्षों तक सिद्धासन का अभ्यास करता है। वह निष्पत्ति अवस्था अर्थात मोक्ष या योग में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। जिसने सिद्धासन का अभ्यास कर लिया हो, उसे अन्य भिन्न भिन्न प्रकार के आसन करने की क्या आवश्यकता है?

प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके। उत्पद्यते निरायासात् स्वयमेवोन्मनी कला॥43 ॥

भावार्थ : प्राणवायु के नियंत्रित होने पर साधक का केवल कुम्भक सिद्ध हो जाता है। जिससे बिना किसी प्रयास के अर्थात अपने आप ही उन्ममी कला (समाधि) की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष : यहाँ पर उन्मनी कला का अर्थ समाधि है।

तीनों बन्धों का एकसाथ लगना

तथैकस्मिन्नेव दृढे बद्धे सिद्धासने सदा। बन्धत्रयमनायासात् स्वयमेवोपजायते ॥44

भावार्थ : इस प्रकार जब सिद्धासन दृढ़तापूर्वक सिद्ध हो जाता है। तब साधक के तीनों बन्ध (जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध व मूलबन्ध) बिना किसी विशेष प्रयास के अपने आप ही लग जाते हैं।

श्रेष्ठ आसन, प्राणायाम, मुद्रा व नाद

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भ: केवलोपम:। न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लय: ॥45

भावार्थ : सिद्धासन के तुल्य (समान) अन्य कोई आसन नहीं है। केवल कुम्भक के समान कोई अन्य कुम्भक अर्थात प्राणायाम नहीं है। खेचरी मुद्रा के समान अन्य कोई मुद्रा नहीं है। तथा नाद के समान अन्य कोई लय नहीं है।

विशेष : इस श्लोक में स्वामी स्वात्माराम ने योग के चार अंगों में से कौन कौन श्रेष्ठ है ? इसकी चर्चा करते हुए सभी आसनों में से सिद्धासन को, सभी कुम्भको में से केवल कुम्भक को, सभी मुद्राओं में से खेचरी को, व सभी प्रकार के नादों में से लययोग को श्रेष्ठ बताया है।

पद्मासन की विधि

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा दक्षोरूपरि, पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्। अङ्गुष्ठौ, हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत् एतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥46

भावार्थ : बायीं जंघा पर दायें पैर को व दायीं जंघा पर बायें पैर को रखें। अब दोनों हाथों को कमर के पीछे से ले जाते हुए दायें हाथ से दायें व बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठों को मजबूती से पकड़े। इसके बाद अपनी ठुड्डी को छाती पर लगाकर नासिका के अगले हिस्से को देखें। अतः साधकों के सभी रोगों को नष्ट कर करने वाले इस आसन को पद्मासन कहते हैं।

पद्मासन दूसरे मत के अनुसार

उत्तानौ चरणौ कृत्वा उरुसंस्थौ प्रयत्नत:।उरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥47

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया। उत्तमभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनै: ॥48

भावार्थ : अपने दोनों पैरों के तलवों को ऊपर की ओर रखते हुए प्रयत्न पूर्वक जंघाओं पर रखें। बायें पैर को दायीं जंघा व दायें पैर को बायीं जंघा पर। दोनों हाथों की हथेलियों को एक दूसरी के ऊपर करते हुए जंघाओं के बीच में स्थापित करें। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करते हुए ठुड्डी को छाती पर रखें और जीभ को सामने वाले दांतों के मूल भाग में लगा कर वहीं स्थिर कर दें व प्राण को धीरे धीरे उर्ध्वगामी करना चाहिए। यह पद्मासन की दूसरी विधि है।

पद्मासन के लाभ

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्। दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥49

भावार्थ : इस प्रकार ऊपर वर्णित विधि को पद्मासन कहते हैं। यह पद्मासन सभी रोगों को नष्ट करने वाला होता है। यह अत्यन्त दुर्लभ आसन है। जिसे संसार में कुछ बुद्धिमान या योग्य व्यक्ति ही कर सकते हैं। सभी व्यक्ति इसे प्राप्त नहीं कर सकते। अर्थात यह सभी के लिए सहज नहीं है।

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्धा तु पद्मासनम् गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि। वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन् पूरितं न्यश्चन् प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभान्नर: ॥50

भावार्थ : पद्मासन को मजबूती से लगाकर दोनों हाथों की हथेलियों को मिलाकर जंघाओं पर रखें। ठुड्डी को छाती पर टिकाते हुए चित्त में ध्यान लगाएं। अब मूलबन्ध के द्वारा अपान वायु को बार बार ऊपर की ओर प्रवाहित करें व अन्दर वाले प्राण वायु को नीचे की ओर ले जाने से उन दोनों वायुओं का मिलन हो जाता है। जिससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और साधक को अतुल्य व असीमित ज्ञान की प्राप्ति होती है।

पद्मासन द्वारा मुक्ति

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम्। मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशय: ॥५१

भावार्थ : जो योगी पद्मासन की अवस्था में बैठकर नाड़ी द्वारा अन्दर ली गई प्राणवायु को शरीर के अन्दर ही रोके रखता है अर्थात केवल कुम्भक को करता है। वह बिना किसी सन्देह के अवश्य ही मुक्त हो जाता है।

गल्फौ च वृषणस्याध: सीवन्या: पार्श्वयो: क्षिपेत्। दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके॥52

हस्तौ तु जान्वो: संस्थाप्य स्वाङ्गुली: सम्प्रसार्य च। व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं तु समाहित:॥53

सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिपुङ्गवै:। बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥54

भावार्थ : अपने दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोशों के नीचे सीवनी नाड़ी के पास स्थापित करें। बायें पैर की एड़ी को दायीं तरफ और दायीं एड़ी को बायीं तरफ रखें। अब दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाते हुए घुटनों पर रखें। मुहँ को पूरा शेर की तरह खोलते हुए नासिका के अगले हिस्से को देखें। यह आसन सभी योगियों द्वारा इस पूज्य आसन को सिंहासन कहते हैं। इस आसन को करने से तीनों बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध व जालन्धर बन्ध) आसानी से सिद्ध हो जाते हैं।

गल्फौ च वृषणस्याध: सीवन्या: पार्श्वयो: क्षिपेत्। सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥55

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम्। भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधि विनाशनम् गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्ध योगिन:॥56 ॥

भावार्थ : अपने दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोशों के नीचे सीवनी नाड़ी के पास स्थापित करें। बायें पैर की एड़ी को दायीं तरफ और दायीं एड़ी को बायीं तरफ रखें। अब दोनों पैरों के अग्रभाग अर्थात घुटनों को मजबूती से पकड़कर पूरी तरह से स्थिर हो जाएं। इस प्रकार सभी रोगों का नाश करने वाला यह आसन भद्रासन कहलाता है। सिद्ध योगी इस आसन को गोरक्ष आसन कहते हैं।

एवमासनबन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रम:। अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवन क्रियाम् ॥57

भावार्थ : इस प्रकार श्रेष्ठ योग साधकों को आसनों के अभ्यास द्वारा अपनी थकान मिटाने के बाद नाड़ीशुद्धि तथा मुद्रा आदि प्राणायाम की क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष : यहाँ पर इस श्लोक में आसनों के अभ्यास से थकान मिटाने की बात कही गई है। जिससे यह साबित होता है कि आसन करने से शारीरिक व मानसिक थकान दूर होती है। जिस किसी को भी आसन करने के बाद थकान आदि का अनुभव होता है। या तो वह आसन को गलत तरीके से कर रहे हैं या फिर वह आसन को ज्यादा समय तक कर रहे हैं। अतः आसन को पूरी विधि के साथ करने से साधक की थकान अवश्य ही दूर होती है।

आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा। अथ नादानुसंधान मभ् या सानु क्रमो हठे ॥58

भावार्थ : आसन, कुम्भक, (प्राणायाम) तथा मुद्रा आदि क्रियाओं का अभ्यास करने के बाद साधक को नादानुसंधान का अभ्यास करना चाहिए। यही हठयोग करने का अभ्यास क्रम है।

विशेष : इस श्लोक में हठयोग साधना का अभ्यास क्रम बताया गया है। जिसमें पहले आसन का अभ्यास उसके बाद कुम्भक का फिर मुद्राओं का और अन्त में नादानुसंधान का अभ्यास करने की बात कही गई है।

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः। अब्दादुर्ध्वं भवेत् सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥59

भावार्थ : जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, अपने आहार पर संयम करता है अर्थात मिताहार करता है, जो त्यागी अर्थात जिसने सुखभोग की वस्तुओं का त्याग कर दिया है और पूरी तरह से योग के प्रति समर्पित है। ऐसा साधक बिना किसी सन्देह के एक वर्ष या उससे थोड़े अधिक समय में योग में सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

मिताहार

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः। भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥60

भावार्थ : पूरी तरह से चिकने अर्थात घी आदि से युक्त व मीठे खाद्य पदार्थों (आहार) को, पेट का एक चौथाई (¼) भाग खाली छोड़कर व आत्मा की प्रसन्नता के लिए ग्रहण किये जाने वाले आहार को मिताहार कहते हैं।

विशेष : इस श्लोक में मिताहार की चर्चा की गई है। मिताहार का अर्थ है आहार का संयम। सभी योग आचार्यों व ऋषियों ने योगी के लिए मिताहार का ही निर्देश किया है। योग में सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक सभी योग साधकों को मिताहार का पालन अवश्य करना चाहिए। बिना मिताहार का पालन किए योग मार्ग में सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसलिए सभी योगियों ने मिताहार की उपयोगिता की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है।

योग में अपथ्य आहार

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकं सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान्। अजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल पिण्याक हिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥61

भावार्थ : अपथ्य या निषेध आहार : अपथ्य आहार वह होता है जो साधना में बाधा उत्पन्न करता है। हठप्रदीपिका में अपथ्य अथवा निषेध आहार में निम्न खाद्य पदार्थों को रखा गया है कड़वा जैसे करेला, खट्टा जैसे ईमली, तीखा अर्थात कसैला, ज्यादा नमकीन, उष्ण जैसे जायफल, (जो कि पित्त को बढ़ाता है) हरी पत्तियों वाले शाक अर्थात हरे पत्ते वाली सब्जियाँ, कांजी, सरसो व तिल आदि का तेल, शराब, मछली व बकरी आदि पशुओं का मांस, दही, मट्ठा (छाछ) अर्थात लस्सी, कुलथी, कोल अर्थात काली मिर्च, खली, हींग व लहसुन आदि खाद्य पदार्थों का सेवन योग मार्ग में निषेध माना गया है। अतः इन पदार्थों को अपथ्य कहा गया है।

भोजनमहितं विद्यात् पुनरप्युष्णीकृतं रुक्षम्। अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनं शाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥62

भावार्थ : इसके अतिरिक्त दोबारा से गर्म किया हुआ, ज्यादा रूखा अर्थात सूखा भोजन, अधिक नमक वाला, अधिक खट्टा व दूषित अर्थात खराब हुआ भोजन आदि त्यागने योग्य भोजन हैं। इसलिए इस प्रकार के भोजन को योग साधना के दौरान अहितकर या वर्जित कहा है।

वह्नि स्त्रीपथिसेवानामादौवर्जनमाचरेत् ॥63

भावार्थ : इसके अलावा योग साधना को शुरू करने के समय में अर्थात प्रारम्भिक समय में योगी के लिए अग्नि का सेवन, स्त्री का साथ व लम्बी दूरी की यात्रा वर्जित होती हैं। अर्थात योगी को इन सबके सेवन से बचना चाहिए।

विशेष : योग साधना को शुरू करने के समय साधक को कुछ ज्यादा ही सावधानियों का पालन करना पड़ता है। अतः यहाँ पर अग्नि सेवन, स्त्री संग व लम्बी यात्रा से दूरी बनाने की बात कही गई है।

योगी के लिए पथ्य आहार

गोधूमशालियवषष्टिकशोभनान्नाम् क्षीराज्यखण्ड नवनीतसितामधूनि। शुण्ठीपटोलकफलादिकपञ्चशाकं मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥64

भावार्थ : पथ्य या हितकर आहार : पथ्य आहार वह होता है जिसे शरीर शीघ्रता से पचा लेता है। अर्थात शीघ्र हजम होने वाले भोजन को पथ्य कहते हैं। हठप्रदीपिका के अनुसार निम्न खाद्य पदार्थों को पथ्य आहार की श्रेणी में रखा है गेहूँ, पुराना चावल, जौ, साठी चावल, (चावल की अन्य किस्म) क्षीर, (खीर) दूध, घी, खाण्ड, मक्खन, शक्कर, शहद, सोंठ, पाँच प्रकार के शाक अर्थात सब्जियाँ (परवल, लौकी अर्थात घीया, तुरई अर्थात तोरी, कुष्मांड, खीरा) मूंग व मसूर की दालें व वर्षा का जल अर्थात बारिश का शुद्ध पानी आदि को पथ्य आहार अर्थात शीघ्र पचने वाला आहार कहा है।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातु प्रपोषणम्। मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥65

भावार्थ : इसके अलावा योगी साधक को पुष्टिकारक, (जो भोजन शरीर को मजबूत करे) मधुर स्वाद वाला, (जिसका स्वाद मीठा व मधुर हो) स्निग्ध, (जो घी आदि से बना हुआ हो) गव्यम, (गाय के घी व दूध से बने खाद्य पदार्थ) धातुओं को मजबूत बनाने वाला भोजन, व मन को अच्छा लगने वाले अनुकूल भोजन को ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार का आहार पथ्य व हितकारी होता है।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा। अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रित:॥66

भावार्थ : युवा अर्थात जवान, बूढ़ा या बहुत बूढ़ा, रोगी हो या कमजोर। जो साधक आलस्य को त्यागकर योग का अभ्यास करता है। वह योग की सभी क्रियाओं में सिद्धि प्राप्त करता है।

अभ्यास से ही सिद्धि प्राप्ति

क्रियायुक्तस्य सिद्धि: स्यादक्रियस्य कथं भवेत्। न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धि: प्रजायते॥67

भावार्थ : योग में सिद्धि उसे ही मिलती है जो योग की क्रियाओं का अभ्यास करता है। जो यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करता ही नहीं है। उसे सिद्धि कैसे मिल सकती है ? केवल ग्रन्थों को पढ़ने से योग में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। सिद्धि के लिए तो यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करना अनिवार्य है।

न वेषधारणं सिद्धे: कारणं न च तत्कथा। क्रियैव कारणं सिद्धे: सत्यमेतन्न संशय:॥68

भावार्थ : योगी का वेश बना लेना अर्थात योगियों जैसे कपड़े व वेशभूषा बना लेना या योग की कथा अर्थात योग के विषय में चर्चा या कोई कहानी सुनने से योग में सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। योग में सिद्धि प्राप्त करने का कारण केवल मात्र अभ्यास ही है। यौगिक क्रियाओं के अभ्यास द्वारा ही योग में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।

विशेष : आजकल बहुत सारे व्यक्ति योगियों जैसी वेशभूषा पहन कर अपने आप को योगी बताने का झूठा प्रयास करते हैं। उनका कहना होता है कि हमारी कथा का वाचन करने मात्र से अर्थात केवल हमारी कथा सुनने से ही आपको योग में सिद्धि प्राप्त हो जाएगी। लेकिन इस प्रकार के सभी दावे निराधार होते हैं। मात्र योगी की वेशभूषा या कथा कहानियों से योग में किसी प्रकार की कोई सिद्धि नहीं मिल सकती। सिद्धि प्राप्त करने का मात्र एक ही आधार है और वह है यौगिक क्रियाओं का नियमित रूप से अभ्यास।

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा: दिव्यानि करणानि च। सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि॥69

भावार्थ : योग के साधक को अनेक प्रकार के आसनों, अनेक प्रकार के कुम्भकों (प्राणायाम) व सभी प्रकार की यौगिक क्रियाओं का अभ्यास तब तक करना चाहिए जब तक उसे राजयोग अर्थात समाधि रूपी फल की प्राप्ति न हो जाये।

विशेष : यहाँ पर हठयोग की क्रियाओं का अभ्यास तब तक करने की बात कही गई है जब तक कि राजयोग अर्थात समाधि की प्राप्ति न हो जाये। अत: यहाँ पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग साधना का उद्देश्य राजयोग की प्राप्ति ही है।

॥इति श्री सहजानन्द सन्तानचिंतामणि स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेश:॥

भावार्थ : इस प्रकार यह श्री सहजानन्द परम्परा के महान अनुयायी योगी स्वात्माराम द्वारा रचित हठप्रदीपिका ग्रन्थ में आसन की विधि बताने वाले कथन नामक पहला उपदेश पूर्ण हुआ।

३ द्वितीय उपदेश

कुम्भक, (प्राणायाम) व षट्कर्म वर्णन

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशन:। गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान् समभ्यसेत ॥1

भावार्थ : आसन का अभ्यास मजबूत हो जाने पर योगी को अपनी इन्द्रियों को वश में करके हितकारी व थोड़ी मात्रा वाला भोजन करना चाहिए। इसके बाद वह गुरु के द्वारा बताई गई प्राणायाम की विधियों का अभ्यास करे।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥2

भावार्थ : वायु अर्थात प्राणवायु के चंचल होने से हमारा चित्त भी चंचल हो जाता है। और प्राणवायु के स्थिर हो जाने से हमारा चित्त भी स्थिर हो जाता है। प्राणवायु अर्थात प्राणायाम के द्वारा योगी जड़ पदार्थ की तरह स्थिरता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जब योगी प्राण को स्थिर कर देता है तो उससे उसका चित्त भी स्वयं ही स्थिर हो जाता है। अतः योगी साधक को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष : इस श्लोक में चित्त व मन दोनों को नियंत्रित करने का उपाय बताया गया है। हमारे जीवन का आधार हमारा प्राण ही है। जब तक यह हमारे शरीर में विद्यमान रहता है तब तक हम जीवित रहते हैं। और जैसे ही यह शरीर से बाहर निकल जाता है वैसे ही हम मृत घोषित हो जाते हैं। जिस तत्त्व के शरीर में रहने से ही हमारे जीवन की सत्ता है। और जिसके न रहने से हमारी सत्ता ही समाप्त हो जाती है। ऐसे तत्त्व को प्राण कहते हैं। जब साधक जीवन का आधार कहे जाने वाले प्राण पर नियंत्रण कर लेता है। तो उसके बाद कुछ भी ऐसा नहीं रहता जिसको मनुष्य अपने नियंत्रण में न ला सके। फिर चाहे वह चित्त हो, मन हो या इन्द्रियाँ। अतः प्राणायाम करने से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नियंत्रण किया जा सकता है। अगले श्लोक में प्राण की अमूल्य उपयोगिता का भी वर्णन किया गया है।

यावद् वायु: स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते। मरणं तस्य निष्क्रान्ति: ततो वायुं निरोधयेत् ॥3

भावार्थ : शरीर में जब तक यह प्राणवायु विद्यमान (स्थित) है। तब तक ही जीवन कहलाता है। लेकिन जैसे ही यह प्राणवायु शरीर से बाहर निकल जाता है। वैसे ही हम मरण (मृत्यु) अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए हमें जीवन की रक्षा हेतु प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

मलाकुलासु नाड़ीषु मारुतो नैव मध्यग:। कथं स्यादुन्मनीभाव: कार्यसिद्धि: कथं भवेत् ॥4

भावार्थ : जब तक हमारी नाड़ियो में मल अर्थात अवशिष्ट पदार्थ भरे होंगे तब तक प्राणवायु मध्यमार्ग अर्थात सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश नहीं कर सकती। और जब तक प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश नहीं करेगी तब तक उन्मनी भाव (समाधि) कैसे प्राप्त होगी ? और मोक्ष रूपी कार्य किस प्रकार से सिद्ध होंगे ?

विशेष : इस श्लोक में नाड़ी शोधन की आवश्यकता को दर्शाया गया है। नाड़ी की शुद्धि का सबसे सरल व प्रभावी उपाय नाड़ी शोधन प्राणायाम ही होता है। जिसका वर्णन अगले श्लोक में किया जाएगा।

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाड़ीचक्रं मलाकुलम् । तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षम: ॥5

भावार्थ : जब मल से भरी हुई सभी नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। तभी वह योगी प्राण साधना अर्थात प्राणायाम को करने में सक्षम होता है।

प्राणायामं तत: कुर्यात् नित्यं सात्विकया धिया। यथा सुषुम्नानाड़ीस्था: मला: शुद्धिं प्रयान्ति च ॥6

भावार्थ : नाड़ी तन्त्र के शुद्ध हो जाने पर प्रतिदिन सात्विक बुद्धि से प्राणायाम करना चाहिए। जिससे सुषुम्ना नाड़ी में स्थित सभी मलों की शुद्धि हो सके।

नाड़ी शोधन प्राणायाम विधि

बद्ध पद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्। धारयित्वा यथाशक्ति भूय: सूर्येण रेचयेत् ॥7

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनै:। विधिवत् कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥8

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदनिरोधत:। रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगत: ॥9

भावार्थ : योगी को पद्मासन में बैठकर पहले बायीं नासिका से प्राणवायु को अन्दर भरकर उसे अपनी सामर्थ्य शक्ति के अनुसार अन्दर ही रोकना चाहिए। इसके बाद उस प्राणवायु को दायीं नासिका से बाहर निकाल दें। फिर प्राणवायु को धीरे धीरे अपनी दायीं नासिका से शरीर के अन्दर पेट तक भर लेना चाहिए। उसके बाद विधिवत रूप से उसे अन्दर रोकते हुए पुनः बायीं नासिका से प्राणवायु को बाहर निकाल दें। इस प्रकार जिस नासिका से श्वास को बाहर निकाला हो उसी से श्वास को अन्दर भरें और उसे तब तक अन्दर ही रोके रखें जब तक की बाहर छोड़ने की संवेदना (बाहर छोड़ने की इच्छा) न हो जाए। साथ ही दूसरी नासिका से श्वास को धीरे धीरे बाहर छोड़े, कभी भी जल्दबाजी न करें।

विशेष : बायीं नासिका से श्वास को अन्दर भरकर उसे अपने सामर्थ्य के अनुसार अन्दर ही रोककर रखें। फिर श्वास को दायीं नासिका से अन्दर भरकर पुनः यथाशक्ति अन्दर रोके रखें। फिर उसे बायीं नासिका से बाहर निकाल दें। इस प्रकार नाड़ी शोधन का एक चक्र पूरा होता है। श्वास को सदा धीरे धीरे ही बाहर छोड़ना चाहिए।

तीन महीने में नाड़ी समूह की शुद्धि

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्। पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्वामया ॥10

सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां। शुद्धा नाडिगणाः भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥10क
प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्। शनैरशीति पर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥11
भावार्थ : सुबह, दिन के मध्य अर्थात दोहपर में, सायंकाल में तथा आधी रात को इस प्रकार साधक को चार बार में अस्सी (80) कुम्भकों का अभ्यास करना चाहिए।
विशेष : इस प्रकार यहाँ पर चार बार कुम्भक का अभ्यास करते हुए कुल अस्सी कुम्भकों को करने की बात कही गई है। इससे पता चलता है कि एक बार में कुल बीस (20) कुम्भकों का अभ्यास करना चाहिए। तभी चार बार में अस्सी कुम्भक पूरे होंगे।
साधक के तीन प्रकार
कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे। उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥12
भावार्थ : कुम्भकों का अभ्यास करते हुए जब साधक के शरीर से पसीना निकलने लगे तो वह साधना की सबसे छोटी अथवा पहली अवस्था होती है। जिस अवस्था में शरीर के अंगों में कम्पन होने लगे वह साधना का दूसरा स्तर अथवा मध्य अवस्था कहलाती है। जैसे ही साधक में साधना की उच्च अवस्था आती है तो उसका शरीर भूमि को छोड़कर ऊपर उठने लगता है। इसे आकाश गमन की सिद्धि भी कहते हैं। अतः इन अवस्थाओं में उन्नति करने के लिए कुम्भक का अभ्यास करें।
विशेष : यहाँ पर साधक के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है। जिनको निम्न, मध्य व उच्च कोटि के साधकों के नाम से भी जाना जा सकता है।
पसीने की मालिश का फल
जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्। दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥13
भावार्थ : कुम्भक (प्राणायाम) रूपी परिश्रम करने से शरीर में पसीना आता है। उस पसीने की शरीर पर मालिश करनी चाहिए। उस पसीने को कभी भी पोछना नहीं चाहिए। ऐसा करने से शरीर मजबूत व हल्का हो जाता है।
अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम्। ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥14
भावार्थ : योग साधना के प्रारम्भ में साधक के लिए घी व दूध से बने भोजन का सेवन करना उत्तम होता है। उसके बाद जब साधक का अभ्यास मजबूत हो जाने पर भोजन के लिए इस प्रकार के नियम का पालन करना आवश्यक नहीं होता है।
विशेष : योग साधना के शुरुआती दौर में साधक को अपने आहार के प्रति अधिक जागरूक होना चाहिए। इसलिए योग के प्रारम्भ में साधक को पुष्टि व बल प्रदान करने वाले खाद्य पदार्थ अर्थात घी व दूध आदि का सेवन करना आवश्यक है। इससे शरीर में सामर्थ्यता बढ़ती है।
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः। तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥15
भावार्थ : जिस प्रकार शेर, हाथी व बाघ आदि जंगली जानवरों को धीरे धीरे वश में किया जाता है। ठीक उसी प्रकार प्राणवायु को भी धीरे धीरे प्रयत्न पूर्वक वश अथवा नियंत्रण में करना चाहिए। इसके विपरीत यदि प्राणवायु को नियंत्रण करने में किसी प्रकार का उतावलापन या जल्दबाजी करने से जीवन की हानि अर्थात मृत्यु भी हो सकती है। अतः प्राणायाम को सदा पूरी सावधानी व यत्नपूर्वक करना चाहिए।
प्राणायाम में सावधानी
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्। अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥16
भावार्थ : उचित विधि से प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी प्रकार के रोगों का नाश होता है। लेकिन विपरीत विधि अथवा गलत तरीके से प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर में सभी प्रकार के रोगों के उत्पन्न होने की भी सम्भावना रहती है।
वायु कुपित होने से रोगों की उत्पत्ति
हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः। भवन्ति विविधाः रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥17
भावार्थ : प्राणवायु के कुपित (असन्तुलन) होने से हिचकी, दमा, खाँसी, सिर, कान व आँख में पीड़ा तथा विभिन्न प्रकार के अन्य रोग भी होते हैं।
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्। युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥18
भावार्थ : योगी साधक हमेशा प्राणवायु को सही विधि से ही बाहर निकाले, सही विधि से ही अन्दर ले व सही विधि से ही अन्दर रोकना चाहिए। अर्थात साधक को विधिवत रूप से प्राणवायु का रेचन, पूरक व कुम्भक करना चाहिए। इस प्रकार पूर्ण विधि से प्राणायाम करने से साधक को सिद्धि प्राप्त होती है।

नाड़ी शुद्धि का फल

यदा तु नाड़ीशुद्धिः स्यात् तदा चिह्नानि बाह्यतः। कायस्य कृशता कान्तिस्तथा जायेत निश्चतम् ॥19

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥20

भावार्थ : जब हम उचित विधि से प्राणायाम का अभ्यास करते हैं तो उसके फलस्वरूप शरीर में कुछ बाह्य लक्षण दिखाई देते हैं। जिससे शरीर निश्चित रूप से पतला व कान्तियुक्त (चमक वाला) हो जाता है। इस प्रकार नाड़ी के शुद्ध होने से व प्राणवायु को अपनी इच्छानुसार रोक लेने से जठराग्नि प्रदीप्त अर्थात जाग्रत होती है। अनाहत नामक नाद प्रकट होता है और साधक पूर्ण रूप से आरोग्यता से परिपूर्ण (स्वस्थ) हो जाता है।

षट्कर्म का अभ्यास कौन करे ?

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्। अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥21

भावार्थ : जिन व्यक्तियों के शरीर में चर्बी अर्थात मोटापा और कफ ज्यादा है उनको पहले आगे कही जाने वाली छः शुद्धि क्रियाओं का अच्छे से अभ्यास करना चाहिए। इसके अलावा जिन व्यक्तियों के वात, पित्त व कफ नामक तीनों दोष सम अवस्था में हैं। उनको इन छः शुद्धि क्रियाओं का अभ्यास नहीं करना चाहिए। या उनको इनके अभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं है।

षट्कर्म / छः शुद्धि क्रियाएँ

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिः त्राटकं नौलिकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥22

भावार्थ : धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि तथा कपालभाति इन छः शुद्धि क्रियाओं को षट्कर्म कहा जाता है।

क्रियाओं की गोपनीयता एवं महत्त्व

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम्। विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुङ्गवैः ॥23

भावार्थ : यह घट रूपी शरीर को शुद्ध करने वाली व आश्चर्यजनक परिणाम प्रदान करने वाली छः शुद्धि क्रियाओं को गुप्त रखना चाहिए। इसीलिए योगी पुरुषों द्वारा इन सभी शुद्धि क्रियाओं का बहुत आदर सम्मान किया जाता हैं।

धौति क्रिया

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्। गुरु प्रदिष्ट मार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्। पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥24

भावार्थ : धौति के लिए सबसे पहले चार अँगुल चौड़ा (लगभग तीन से चार इंच) और पन्द्रह (15) हाथ लम्बा (लगभग बाईस फीट) सूती वस्त्र लें। उसे पानी में डालकर गीला करलें। फिर गुरु द्वारा बताई विधि के अनुसार उस कपड़े को धीरे धीरे गले से निगलते हुए अपने पेट में ले जाएं। कुछ समय पश्चात धीरे धीरे उसे वापिस निकाल लें।

यह प्रक्रिया धौति कर्म कहलाती है। इस धौति क्रिया को वस्त्र धौति के नाम से जाना जाता है।

धौति क्रिया के लाभ

कास श्वास प्लीहा कुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः। धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥25

भावार्थ : धौति क्रिया के प्रभाव अर्थात अभ्यास से निःसंदेह खाँसी, दमा, तिल्ली व कुष्ठ आदि चर्म रोग व इसके अलावा बीस प्रकार के कफ रोगों का भी नाश होता है।

विशेष : हठयोग के अनुसार कफ के असन्तुलित होने से से बीस (20) प्रकार के रोग होते हैं।

गजकरणी क्रिया

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले। क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥26

भावार्थ : योगी को अभ्यास द्वारा क्रमानुसार अपने नाड़ीतन्त्र पर नियंत्रण प्राप्त करके अपानवायु को ऊपर कण्ठ तक लाकर, उसकी सहायता से पेट में स्थित पदार्थों (बिना पचे हुए अन्न व जल) को वमन अर्थात बाहर निकालना गजकरणी क्रिया कहलाती है।

विशेष : यहाँ पर गजकरणी क्रिया का उल्लेख किया गया है। यह भी एक प्रकार की शुद्धि क्रिया है। लेकिन इसे मुख्य शुद्धि क्रियाओं में नहीं रखा गया है। कुछ भाष्यकारों ने इस श्लोक का वर्णन सभी षट्कर्मों के बाद किया है।

बस्ति क्रिया

नाभिदघ्नजले पायुन्यस्तनालोत्कटासनः। आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥27

भावार्थ : नाभि तक के गहरे पानी में उत्कटासन लगाकर गुदा में नाल अर्थात नली लगाकर अपने मूलाधार का संकोच करें (अश्वनी मुद्रा का अभ्यास करें) अर्थात गुदा से पानी को अन्दर की ओर खींचें और गुदा को अन्दर से धोये। यह बस्ति क्रिया कहलाती है।

विशेष : गुदा का आंकुचन (फैलाना) व संकुचन (सिकोड़ना) करना अश्वनी मुद्रा कहलाती है।

बस्ति क्रिया के लाभ

गुल्म प्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवा:। बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामया: ॥28

भावार्थ : बस्ति क्रिया के प्रभाव अर्थात अभ्यास से वायुगोला, तिल्ली, जलोदर व वात, पित्त और कफ के असन्तुलन से उत्पन्न होने वाले सभी रोगों का नाश होता है।

विशेष : वायुगोला का अर्थ है पेट में वायु के प्रकोप से कई बार एक गोलानुमा आकृति का बनना। तिल्ली स्प्लीन को कहते हैं व जलोदर का अर्थ है जल से उत्पन्न होने वाले रोग।

धात्विन्द्रियान्त:करणप्रसादं दद्याच कान्तिन्दहनप्रदीप्तिम्। अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥29

भावार्थ : जल बस्ति क्रिया से ही शरीर की सभी रस, रक्त, मास, मेद, मज्जा हड्डी व वीर्य आदि सप्त धातु, इन्द्रियाँ, और अन्त:करण निर्मल हो जाते हैं। शरीर में तेजस्विता आती है। पाचन क्रिया मजबूत होती है और साथ ही जल बस्ति से सभी प्रकार के रोग भी समाप्त होते हैं।

नेति क्रिया

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्। मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेति: सिद्धैर्निगद्यते ॥30

भावार्थ : पूरी तरह चिकनाई से युक्त एक बारह अँगुल लम्बे सूती धागे को नाक के एक छिद्र से डालकर उसे मुँह द्वारा बाहर निकालने को योगियों ने नेति क्रिया कहा है।

नेति क्रिया के लाभ

कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी। जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥31

भावार्थ : नेति क्रिया के अभ्यास से पूरे कपाल प्रदेश (मस्तिष्क) की शुद्धि होती है, दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है और इसके अतिरिक्त नेति हमारे दाढ़ों अर्थात जबड़े से ऊपर होने वाले सभी रोगों को नष्ट करती है।

विशेष : सामान्य रूप से नेति के दो अथवा तीन प्रकारों का वर्णन हमें सुनने को मिलता है। लेकिन हठप्रदीपिका व घेरण्ड संहिता दोनों ही ग्रन्थों में नेति को एक ही प्रकार की माना है। जिसे हम सामान्यत सूत्र नेति कहते हैं। वर्तमान समय में योग के आचार्यों ने नेति के कई प्रकारों का वर्णन अपनी पुस्तकों में किया है। जिससे प्रायः विद्यार्थियों के सामने भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है। अतः यौगिक ग्रन्थों के अनुसार नेति एक ही प्रकार की है जिसे सूत्र नेति कहा है। सूत्र नेति के अलावा आधुनिक समय में नेति के विभिन्न प्रकार प्रचलन में हैं जल नेति, रबड़ नेति, दुग्ध नेति व घृत नेति आदि। इन सभी में जल नेति का प्रयोग सूत्र नेति के पूर्व कर्म (प्री वर्कआउट) के रूप में किया जाता है जो कि तर्कसंगत है। दुग्ध व घृत नेति का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन के लिए किया जाता है। लेकिन इन सभी में रबड़ नेति का प्रयोग कई प्रकार से हानिकारक हो सकता है। सबसे पहले तो रबड़ नेति रबड़ की बनी होती है और रबड़ के निर्माण में बहुत से हानिकारक कैमिकलों का प्रयोग किया जाता है। जो निश्चित रूप से शरीर के लिए हानिकारक होते हैं। दूसरा रबड़ में एक प्रकार की दुर्गन्ध आती है और हमारी नासिका बहुत ही संवेदनशील अंग है। जिससे नासिका में एलर्जी होने का भय बना रहता है। तीसरा रबड़ नेति रबड़ की बनी होती है जिसका टूटने का खतरा भी रहता है। अतः उपर्युक्त कारणों से यह मेरी निजी सलाह है कि योग के साधक को रबड़ नेति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। बाकी यह सभी विद्वानों की चर्चा का विषय भी है।

त्राटक क्रिया

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहित:। अश्रुपातनपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥32

भावार्थ : एकाग्र होकर अपनी आँखों से किसी भी सूक्ष्म लक्ष्य (जो दिखाई देता हो) को तब तक देखें जब तक आँखों से पानी (आँसू) न आ जाए। योग आचार्यों ने इस क्रिया को त्राटक कहा है।

विशेष : त्राटक क्रिया का अभ्यास हम किसी दीपक या मोमबत्ती के ऊपर कर सकते हैं अथवा किसी एक बिन्दु पर भी इसका अभ्यास किया जा सकता है। आजकल आपको बाजार से त्राटक के लिए स्टैण्ड भी आसानी से उपलब्ध हो सकता है। मोतियाबिंद के रोगियों को दीपक या मोमबत्ती पर त्राटक का अभ्यास नहीं करना चाहिए। जिन व्यक्तियों को नजर का चश्मा लगा हो उनको त्राटक का अभ्यास चश्मा उतार कर करना चाहिए।

त्राटक क्रिया के लाभ

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्। यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥33

भावार्थ : त्राटक का अभ्यास करने से व्यक्ति के नेत्र सम्बन्धी सभी रोगों का नाश हो जाता है और यह साधक में तन्द्रा व आलस्य को आने से इस तरह से रोकता है जैसे दरवाजा (किवाड़) हवा को अन्दर आने से रोकता है। इसीलिए त्राटक के अभ्यास को बहुमूल्य रत्नों की तरह छिपाकर करने योग्य बताया गया है।

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यत:। नतांसो भ्रामयेद् एषा नौलि: सिद्धै: प्रचक्ष्यते ॥34

भावार्थ : अपने कंधों को थोड़ा आगे की ओर झुकाकर पेट को भँवर की तरह पूरी तेज गति के साथ दायीं तरफ से बायीं तरफ घुमाने को योगी पुरुष नौलि क्रिया कहते हैं।

नौलि के लाभ

मन्दाग्नि सन्दीपनपाचनादिसन्धायिकानन्दकरी सदैव। अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिरियं च नौलि ॥35

भावार्थ : नौलि क्रिया हमारी मन्द (खराब या कमजोर) जठराग्नि को तेज करके पांचन शक्ति को मजबूत करती है। इसका अभ्यास हमेशा आनन्द प्रदान करवाने वाला होता है। साथ ही यह शरीर के सभी दोषों को समाप्त करती है। नौलि क्रिया हठयोग की सभी शुद्धि क्रियाओं में श्रेष्ठ है। ऐसा स्वामी स्वात्माराम का मानना है।

विशेष : नौलि के अभ्यास से पहले साधक को उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

कपालभाति क्रिया व लाभ

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ। कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥36

भावार्थ : लोहार की धौकनी की तरह श्वास को तेज गति के साथ आवाज करते हुए अन्दर व बाहर करना कपालभाति कहलाता है। इसके अभ्यास से सभी प्रकार के कफ दोष नष्ट हो जाते हैं।

विशेष : कपालभाति के बारे में लोगों के बीच बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ बनी हुई हैं। हम यहाँ पर प्रयास करेंगे कि उन सभी का निदान कर पाएँ। कपालभाति को कुछ व्यक्ति प्राणायाम का अंग भी मानते हैं तो वहीं कुछ लोग इसे षट्कर्म का अंग मानते हैं। ये दोनों ही धारणाएँ अपने स्थान पर सही हैं। हठयोग आचार्यों की बात करें तो कपालभाति एक षटकर्म का अंग है। जिसकी अलग अलग विधि का वर्णन हमें अलग अलग ग्रन्थों में मिलता है। हठप्रदीपिका में कपालभाति की विधि अलग प्रकार से बताई गई है और इसके कोई अन्य प्रकार नहीं बताए हैं। वहीं घेरण्ड संहिता में कपालभाति की अलग विधि का वर्णन किया गया है और वहाँ पर उसके तीन प्रकार (वातक्रम, व्युत्क्रम व शीतक्रम) बताए हैं।

इससे पता चलता है कि अलग अलग विधि ही सही लेकिन हठयोग आचार्यों ने इसे शुद्धि क्रिया का अंग ही माना है। लेकिन आधुनिक युग की हम बात करें तो योग ऋषि स्वामी रामदेव ने कपालभाति को प्राणायाम के रूप में माना है। वह अपने प्राणायाम के क्रम का आरम्भ कपालभाति से ही शुरू करते हैं। उपर्युक्त कारणों से कपालभाति के बारे में बहुत सारी भ्रान्तियाँ लोगों के बीच बनी हुई हैं। अतः हठयोग आचार्यों (स्वामी स्वात्माराम, महर्षि घेरण्ड) के अनुसार कपालभाति एक शुद्धि क्रिया है और स्वामी रामदेव के अनुसार यह एक प्राणायाम का अंग है। इसके अलावा इन सभी के अनुसार कपालभाति की विधि भी अलग अलग है।

षट्कर्म से मोटापा, कफ व मल शुद्धि

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिक:। प्राणायामं तत: कुर्यादनायासेन सिद्धयति ॥37 ॥

भावार्थ : षट्कर्म के अभ्यास द्वारा मोटापा, कफ विकार, व शरीर के अन्य दोष आदि को दूर करने के बाद प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से साधक को प्राणायाम में आसानी से सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

विशेष : प्राणायाम का अभ्यास षट्कर्म के बाद ही करने का निर्देश दिया गया है। ताकि प्राणायाम करते हुए सहजता से सिद्धि प्राप्त हो सके।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति। आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत् कर्म न संमतम् ॥38

भावार्थ : कुछ योग आचार्यों का मानना है कि प्राणायाम के द्वारा ही शरीर के सभी दोष अथवा विकारों की समाप्ति हो जाती है। अतः षट्कर्म आदि शुद्धि क्रियाओं को करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विशेष : कुछ आचार्य प्राणायाम क्रियाओं को ही शरीर के दोषों या विकारों को दूर करने में सक्षम मानते हैं। उनके अनुसार प्राणायाम करने के बाद शुद्धि क्रियाओं को करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशा: पवनाभ्यासतत्परा:। अभूवन्नन्तकभयात् तस्मात् पवनमभ्यसेत् ॥39

भावार्थ : यमराज अर्थात मृत्यु के भय से ब्रह्मा आदि देवताओं ने भी प्राणायाम का अभ्यास किया था। इसलिए हमें भी प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

यावद् बद्धो मरुद् देहे यावच्चितं निराकुलम्। यावद् दृष्टि: भ्रुवो: मध्ये तावत्कालभयं कुत: ॥40
भावार्थ : जब तक इस शरीर में वायु अर्थात प्राण स्थिर है तब तक चित्त भी स्थिर है। जब तक साधक की दृष्टि भौहों (आज्ञा चक्र) के बीच में स्थिर है तब तक उसे मृत्यु का भय नहीं रहता।
विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते। सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुत: ॥41
मारुते मध्यसंचारे मन:स्थैर्यं प्रजायते। यो मन: सुस्थिरीभाव: सैवावस्था मनोन्मनी ॥42
भावार्थ : प्राणायाम को विधिपूर्वक करने से जब हमारा नाड़ी समूह शुद्ध हो जाता है। तब प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी के मुख का भेदन करके उसके अन्दर प्रवेश कर जाता है। प्राण के सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करने से मन में स्थिरता आती है जिससे मन पूरी तरह से स्थिर हो जाता है। मन के इस प्रकार पूरी तरह से स्थिर हो जाने को मनोन्मनी अवस्था या समाधि कहते हैं।
विशेष : यहाँ पर समाधि को ही मनोन्मनी अवस्था कहा गया है।
तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुम्भकान्। विचित्रकुम्भकाभ्यासाद् विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥43
भावार्थ : अनेक प्रकार के प्राणायामों की विधि को जानने वाले योगी सिद्धि अर्थात समाधि की प्राप्ति के लिए अलग अलग प्रकार के प्राणायामों का अभ्यास करते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार के प्राणायाम के करने से साधक को अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

आठ प्रकार के कुम्भक (प्राणायाम)

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भका: ॥44
भावार्थ : सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा व प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक अर्थात प्राणायाम कहे गए हैं।

बन्ध का प्रयोग

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिध:। कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानक: ॥45
भावार्थ : प्राणायाम करते हुए पूरक अर्थात प्राणवायु को शरीर के अन्दर भरने के बाद जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए और कुम्भक (प्राण को रोकने) के बाद व रेचक (छोड़ने) से पहले उड्डीयान बन्ध का प्रयोग करना चाहिए।

बन्धों का महत्त्व

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिग: ॥46
भावार्थ : कुम्भक (प्राणायाम) करते समय गुदा का संकोच रूपी मूलबन्ध करने, गले का संकोच रूपी जालन्धर बन्ध करने व उदर का संकोच रूपी उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करने से साधक का प्राण सीधा ब्रह्मनाड़ी अर्थात सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करता है।
विशेष : सुषुम्ना नाड़ी को ब्रह्मनाड़ी भी कहा जाता है।

प्राण व अपान की साधना का फल

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत्। योगी जराविमुक्त: सन् षोडशाब्दवया भवेत् ॥47
भावार्थ : अपान वायु (नीचे की वायु) को ऊपर उठाकर और प्राण वायु को कण्ठ प्रदेश से नीचे की ओर ले जाने की साधना करने से बूढ़ा व्यक्ति भी अपने बुढ़ापे से मुक्त होकर सोलह (16) साल के युवक के समान हो जाता है।
विशेष : इस श्लोक में प्राण व अपान वायु के एकीकरण की बात कही गई है।

सूर्यभेदी प्राणायाम

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं तत:। दक्षनाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनै: ॥48
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्। तत: शनै: सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं शनै: ॥49
भावार्थ : योगी साधक को कोई सुखदायी आसन बिछाकर, उसके ऊपर पद्मासन आदि ध्यानात्मक आसन में बैठकर अपनी दायीं नासिका से बाहर की वायु को इतना अन्दर भरें कि वह वायु बालों से लेकर नाखूनों तक पहुँच जाए। अर्थात बाहर की वायु को अधिक से अधिक अन्दर भरें। अन्दर भरने के बाद जितनी देर हो सके उस वायु को अन्दर ही रोके रखें। उसके बाद उस वायु को धीरे धीरे बायीं नासिका से बाहर निकाल दें। यह सूर्यभेदी प्राणायाम कहलाता है।
विशेष : सूर्यभेदी प्राणायाम में विधि सदैव यही रहती है। इसी क्रम का साधक बार बार अभ्यास करे। इसमें दायीं नासिका से ही श्वास को इसलिए लेते हैं क्योंकि दायीं नासिका सूर्य का प्रतिनिधित्व करती है।
उच्च रक्तचाप, नकसीर, व हृदय रोगियों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

सूर्यभेदी के लाभ

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्। पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥50

भावार्थ : सूर्यभेदी प्राणायाम हमारे कपाल अर्थात मस्तिष्क प्रदेश को शुद्ध करता है, वात सम्बंधित (वायु के कुपित होने से होने वाले रोग) रोगों को समाप्त करता है व कृमि अर्थात पेट में उत्पन्न होने वाले कीड़ों को नष्ट करता है। इसलिए योगी साधक को इस सूर्यभेदी नामक उत्तम प्राणायाम का अभ्यास बार बार करना चाहिए।

उज्जायी प्राणायाम

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः। यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥51

भावार्थ : मुख को बन्द करके इड़ा व पिंगला नाडियों (दोनों नासिकाओं) से वायु को धीरे धीरे अन्दर भरें। जब वायु को अन्दर भरें तब गले से लेकर हृदय प्रदेश तक वायु के स्पर्श का अनुभव होना चाहिए।

विशेष : इस प्राणवायु के दौरान जब हम श्वास को अन्दर लेते हैं तो अपने गले को थोड़ा सिकोड़ लेते हैं। जिसके कारण हम वायु के स्पर्श का अनुभव कर पाते हैं। तभी हमें उज्जायी प्राणायाम करते हुए एक ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि गले के साथ स्पर्श करती हुई वायु की ही होती है।

उज्जायी विधि व लाभ

पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः। श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥52

भावार्थ : पूर्व वर्णित प्राणायाम की भाँति अर्थात सूर्यभेदी की तरह ही कुम्भक करते हुए, श्वास को बायीं नासिका से बाहर निकाल देना ही उज्जायी प्राणायाम कहलाता है। इसके अभ्यास से सभी कफ सम्बन्धी, गले सम्बन्धी रोग दूर होते हैं व जठराग्नि प्रदीप्त (पाचन तंत्र मजबूत) होती है।

उज्जायी के लाभ

नाडी जलोदरा धातु गत दोष विनाशनम्। गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥53

भावार्थ : इस उज्जायी नामक प्राणायाम के करने से नाड़ियों के दोष, जलोदर अर्थात पेट सम्बन्धी व धातुओं से सम्बंधित रोग नष्ट हो जाते हैं। अतः साधक इस प्राणायाम का अभ्यास चलते फिरते हुए या स्थिर होकर (खड़े होकर अथवा बैठकर) भी कर सकता है।

विशेष : उज्जायी प्राणायाम की यह अलग से विशेषता है कि हम इसका अभ्यास चलते फिरते या खड़े होकर भी कर सकते हैं। परीक्षा की दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बनता है कि कौन सा ऐसा प्राणायाम है जिसे हम चलते फिरते हुए या खड़े होकर भी कर सकते हैं?

सीत्कारी प्राणायाम विधि व लाभ

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्। एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥54

भावार्थ : मुख से सीत्कार अर्थात सी सी की ध्वनि करते हुए वायु को अन्दर भरें और रेचक अर्थात श्वास को बाहर हमेशा नासिका से ही निकालना चाहिए। इस प्रकार के योग का अभ्यास करने से योगी साधक कामदेव के समान अर्थात देवताओं के समान सुन्दर व मनमोहक हो जाता है।

उज्जायी की प्रशंसा व लाभ

योगिनीचक्रसम्मान्यः सृष्टिसंहारकारकः। न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥55

भावार्थ : यह योगियों द्वारा अत्यंत प्रिय व सम्मानित प्राणायाम है। इसके करने से योगी विश्व का निर्माण व विनाश करने में सक्षम हो जाता है। उसे न ही तो भूख परेशान करती है और न ही प्यास। इसके अलावा उसके अन्दर कभी निद्रा व आलस्य का भाव नहीं आता है।

भवेत् स्वच्छन्ददेहस्तु सर्वोपद्रववर्जितः। अनेन विधिना सत्यं योगिन्द्रों भूमिमण्डले ॥56

भावार्थ : इस तरह से सीत्कारी प्राणायाम का अभ्यास करने से योगी स्वच्छ शरीर अर्थात रोग रहित शरीर वाला हो जाता है व सभी प्रकार के उपद्रवों से रहित हो जाता है। इस प्रकार की विधि का पालन करने से वह साधक इस पूरी पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ अथवा विख्यात योगी बन जाता है।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भसाधनम्। शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत् पवनं सुधीः ॥57

भावार्थ : बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वह जिह्वया अर्थात जीभ के बीच से प्राणवायु को अन्दर भरे। इसके लिए जीभ के दोनों किनारों को अन्दर की ओर मोड़ना पड़ेगा। तभी वायु जीभ के बीच से होकर शरीर के अन्दर प्रवेश करेगी। इसके बाद फिर पहले वाले प्राणायाम

की तरह ही कुम्भक (श्वास को अन्दर रोकने) को लगाना चाहिए। फिर धीरे धीरे प्राणवायु को नासिका के दोनों छिद्रों से बाहर निकाल दें। यह शीतली प्राणायाम कहलाता है।

शीतली प्राणायाम के लाभ

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्। विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥58

भावार्थ : शीतली नामक प्राणायाम के करने से साधक के सभी वायु विकार, तिल्ली का बढ़ना, बुखार, सभी पित्त सम्बन्धी दोषों को समाप्त कर देता है। भूख व प्यास की व्याकुलता को कम करता है और साथ ही शरीर में बनने वाले जहर के प्रभाव को भी समाप्त कर देता है।

विशेष : हठयोग के आसन, प्राणायाम व मुद्रा आदि के लाभों में आपको विष शब्द का प्रयोग बहुत बार मिलेगा। इस विष शब्द का अर्थ यहाँ पर सामान्य जहर बिलकुल भी नहीं है। कई विद्यार्थी इसे सामान्य जहर समझने की भूल कर लेते हैं। लेकिन यहाँ पर कहे गए विष शब्द का अर्थ विजातीय तत्त्वों से है। हमारे शरीर में गलत आहार ग्रहण करने से, ज्यादा आहार ग्रहण करने से या फिर ग्रहण किए गए आहार के न पचने से शरीर में कुछ ऐसे विषैले तत्त्व बन जाते हैं जो शरीर को हानि पहुँचाने का काम करते हैं। यहाँ पर उसी विष का वर्णन बार बार किया गया है।

भस्त्रिका प्राणायाम से पहले पद्मासन की स्थिति

ऊर्वोरूपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे। पद्मासनं भवेदेतत् सर्वपापप्रणाशनम् ॥59

भावार्थ : अपने दोनों पैरों के तलवों को दोनों जंघाओं के ऊपर रखकर बैठें। यह सभी प्रकार के पाप कर्मों को नष्ट करने वाला पद्मासन कहलाता है।

विशेष : भस्त्रिका प्राणायाम को पद्मासन में ही बैठकर करने का निर्देश किया गया है। जबकि अन्य किसीप्राणायाम को करने के लिए किसी आसन विशेष की बात नहीं कही गई है। अतः परीक्षा की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो सकता है कि भस्त्रिका प्राणायाम को किस आसन में बैठकर करने का निर्देश दिया गया है ? जिसका उत्तर पद्मासन होगा।

भस्त्रिका प्राणायाम विधि

सम्यक् पद्मासनं बद्धा समग्रीवोदरं सुधीः। मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥60

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम्। वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम्। पुनर्विरेचयेत्तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः ॥61

भावार्थ : बुद्धिमान साधक अच्छी प्रकार से पद्मासन लगाकर अपने पेट व गर्दन को बिलकुल सीधा रखते हुए मुख को अच्छी तरह से बन्द करे। और जिस प्रकार से लोहार की धौकनी पूरी तेज गति से चलती रहती है। ठीक उसी प्रकार अपनी नासिका से प्राणवायु को पहले बलपूर्वक बाहर निकाले और फिर उसी प्रकार आवाज करते हुए प्राणवायु को इतना अन्दर तक भरें कि पूरा गला, हृदय प्रदेश व कपाल वायु से भर जाएं। इसी प्रकार प्राणवायु को बार बार ध्वनि व बलपूर्वक रेचक (बाहर) व पूरक (अन्दर) करें।

यथैव लोहकरेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते। तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं धिया ॥62

भावार्थ : जिस प्रकार लोहार की धौकनी पूरी तेज गति से चलती रहती है। ठीक उसी प्रकार से योगी साधक को भी बुद्धियुक्त होकर शरीर में स्थित प्राणवायु को पूरी गति के साथ चलाना चाहिए।

थकान दूर करने का उपाय

यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत्। यथोदरं भवेत् पूर्णं पवनेन तथा लघु ॥63

भावार्थ : भस्त्रिका प्राणायाम करते हुए जैसे ही साधक को थकान महसूस हो वैसे ही उसे अपनी दायीं नासिका से श्वास को अन्दर भरना चाहिए। जिससे पेट वायु से पूर्ण रूप से भर जाए। ऐसा करने से साधक की थकान मिटती है।

प्राणायाम करते हुए सही अंगुलियों का प्रयोग

धारयेन्नासिकां मध्या तर्जनीभ्यां विना दृढम्। विधिवत् कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥64

भावार्थ : इसके बाद अपनी नासिका को मध्यमा (बीच की सबसे बड़ी अंगुली) व तर्जनी (सबसे पहली अंगुली) को छोड़कर शेष बची हुई अनामिका, (रिंग फिंगर या तीसरी अंगुली) कनिष्ठिका (सबसे छोटी अंगुली) व अंगूठे की सहायता से मजबूती से बन्द करके पहले की तरह ही कुम्भक लगाए। इसके बाद दायीं नासिका को बन्द रखते हुए बायीं नासिका से श्वास को बाहर निकालना चाहिए। यह भस्त्रिका प्राणायाम कहलाता है।

विशेष : इस श्लोक में इस बात को विशेष रूप से दर्शाया गया है कि हमें प्राणायाम करते हुए कौन सी अंगुली का प्रयोग करना चाहिए और कौन सी का नहीं ? समान्य तौर पर व्यक्ति अपनी सुविधानुसार किसी भी अंगुली का प्रयोग नासिका को बन्द करने के लिए कर लेता है। लेकिन इसकी हठयोग में एक विधि बताई गई है। जिसका वर्णन इसी श्लोक में किया गया है।

यह परीक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो सकता है कि हठयोग या हठप्रदीपिका के अनुसार प्राणायाम करते समय कौन कौन सी अंगुलियों का प्रयोग करना चाहिए ? इसके उत्तर के लिए इसी श्लोक की सहायता लेनी चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट रूप से लिखा है कि हमें मध्यमा व तर्जनी अंगुली को छोड़कर बाकी सभी का प्रयोग करना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि बची हुई अनामिका, (तीसरी या रिंग फिंगर) कनिष्ठिका (सबसे छोटी अंगुली) व अंगूठे का ही प्रयोग करना चाहिए।

भस्त्रिका प्राणायाम के लाभ

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥65

भावार्थ : भस्त्रिका प्राणायाम करने से साधक के सभी वात, पित्त व कफ से सम्बंधित सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और जठराग्नि प्रदीप्त (मजबूत) हो जाती है।

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्। ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥66

भावार्थ : भस्त्रिका प्राणायाम सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर जमा कफ आदि मलों को दूर करता है। जिसके कारण शरीर का हित करने व सुख पहुँचाने वाली प्राणवायु सुगमता से सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके कुण्डलिनी को जागृत करने का काम करती है।

सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्। विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥67

भावार्थ : यह भस्त्रिका नामक प्राणायाम शरीर में स्थित तीनों ग्रन्थियों (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि) का भली प्रकार से भेदन अर्थात उनको खोलने का काम करता है। इसलिए भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास सभी साधकों को विशेष रूप से करना चाहिए।

भ्रामरी प्राणायाम विधि व लाभ

वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गनादम् भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम्। योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगात् चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥68

भावार्थ : भ्रमर (भवरें) की तरह पूरी तेज गति से गुंजन (आवाज) करते हुए श्वास को अन्दर भरें। इसके बाद धीरे धीरे भ्रमरी (भंवरी) की तरह गुंजन करते हुए श्वास को बाहर निकालना भ्रामरी प्राणायाम कहलाता है। इस प्रकार का अभ्यास करने से श्रेष्ठ योगियों के चित्त में एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करवाने वाली लीला का अनुभव होता है।

विशेष : इस श्लोक में भ्रमर शब्द भंवरे के लिए व भ्रमरी शब्द भंवरी के लिए प्रयोग किया गया है।

मूर्च्छा प्राणायाम विधि व लाभ

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः। रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥69

भावार्थ : श्वास को अन्दर भरने के बाद मजबूती के साथ जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए। इसके बाद धीरे धीरे श्वास को बाहर निकालने को मूर्च्छा प्राणायाम कहते हैं। मन की यह मनोमूर्च्छा साधक को सुख की अनुभूति करवाने वाली होती है।

प्लाविनी प्राणायाम विधि व लाभ

अन्तःप्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः। पयस्यगाधेऽपि सुखात् प्लवते पद्मपत्रवत् ॥70

भावार्थ : जो साधक पेट के अन्दर ज्यादा से ज्यादा प्राणवायु को भर लेना प्लाविनी प्राणायाम कहलाता है। इसके अभ्यास से साधक गहरे जल (पानी) में भी सुखपूर्वक कमल के पत्ते की तरह तैरता रहता है।

विशेष : प्लाविनी प्राणायाम का लाभ भी परीक्षा की दृष्टि से आवश्यक है। इसके लिए पूछा जाता है कि ऐसा कौन सा प्राणायाम है जिसको करने से साधक गहरे पानी में भी कमल के पत्ते के समान तैरता रहता है? या ऐसा कौन सा प्राणायाम है जिसको करने से साधक जल में नहीं डूबता? इसका उत्तर प्लाविनी प्राणायाम ही है।

प्लाविनी प्राणायाम हठप्रदीपिका में वर्णित सभी प्राणायामों (कुम्भकों) में अन्तिम कहा गया है। इसी के साथ कुम्भकों का वर्णन समाप्त हुआ।

प्राणायाम के तीन प्रमुख अंग

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः। सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः। यावत् केवलसिद्धिः स्यात् सहितं तावदभ्यसेत् ॥71

भावार्थ : प्राणायाम के तीन मुख्य अंग होते हैं जिनसे प्राणायाम पूर्ण होता है। रेचक, (श्वास को बाहर निकालना) पूरक (श्वास को अन्दर भरना) व कुम्भक (श्वास को अन्दर या बाहर कहीं भी रोक कर रखना)। इसमें कुम्भक के दो प्रकार होते हैं एक सहित कुम्भक व दूसरा केवल कुम्भक। जब तक साधक को केवल कुम्भक में सिद्धि नहीं मिल जाती तब तक उसे सहित कुम्भक का अभ्यास करते रहना चाहिए।

विशेष : इस श्लोक में प्राणायाम के तीन अंगों की चर्चा की गई है। जिनसे प्राणायाम पूरा होता है। बिना रेचक, पूरक व कुम्भक के कोई भी प्राणायाम पूर्ण नहीं हो सकता।

सहित कुम्भक

रेचक: पूरक: कार्य: स वै सहित कुम्भक:।

भावार्थ : जब प्राणायाम को रेचक व पूरक के साथ किया जाता है तब वह सहित कुम्भक कहलाता है।

विशेष : सहित कुम्भक में रेचक व पूरक दोनों का ही प्रयोग किया जाता है। तभी वह सहित कुम्भक कहलाता है।

केवल कुम्भक

रेचकं पूरकं मुक्तवा सुखं यद्वायुधारणम्। प्राणायामोऽयमित्युक्त: स वै केवलकुम्भक: ॥72

भावार्थ : रेचक व पूरक के बिना अपने आप प्राणवायु को सुखपूर्वक शरीर के अन्दर धारण करने (रोकना) को ही केवल कुम्भक प्राणायाम कहते हैं।

विशेष : केवल कुम्भक का अभ्यास रेचक व पूरक के बिना ही किया जाता है।

केवल कुम्भक की सिद्धि का महत्त्व

कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरक वर्जिते। न तस्य दुर्लभं किञ्चित्रिषु लोकेषु विद्यते ॥73

भावार्थ : बिना रेचक व पूरक के केवल कुम्भक प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर योगी साधक के लिए इन तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ अर्थात अप्राप्य नहीं रहता। अर्थात तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे वो प्राप्त न कर सकते हों।

केवल कुम्भक द्वारा राजयोग प्राप्ति

शक्त: केवल कुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात्। राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशय: ॥74

भावार्थ : केवल कुम्भक द्वारा जब साधक पूर्ण सामर्थ्यवान हो जाता है तब वह जब तक चाहे तब तक प्राणवायु को अपने भीतर रोक कर रख सकता है। ऐसा करने से वह राजयोग अर्थात समाधि को भी प्राप्त कर सकता है। इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।

केवल कुम्भक के द्वारा कुण्डलिनी जागरण व हठयोग सिद्धि

कुम्भकात् कुण्डलीबोध: कुण्डलीबोधतो भवेत्। अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥75

भावार्थ : केवल कुम्भक से कुण्डलिनी का जागरण हो जाता है और कुण्डलिनी के जागृत होने से सुषुम्ना नाड़ी के सभी मल रूपी अवरोध भी स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार साधक को हठयोग में सिद्धि की प्राप्ति होती है।

राजयोग व हठयोग का सम्बन्ध

हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठ:। न सिद्धयति ततो युग्ममानिष्पत्ते: समभ्यसेत् ॥76

भावार्थ : हठयोग के बिना राजयोग की व राजयोग के बिना हठयोग की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए जब तक निष्पत्ति अर्थात समाधि की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक इन दोनों का अभ्यास करते रहना चाहिए।

विशेष : इस श्लोक में राजयोग व हठयोग की एक दूसरे पर निर्भरता को दर्शाया गया है। इससे हमें पता चलता है कि यह एक दूसरे पर पूरी तरह से आश्रित हैं।

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम्। एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥77

भावार्थ : कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को पूरी तरह से रोक लेने के बाद साधक को चाहिए कि वह अपने चित्त को आश्रय रहित बना ले। इस प्रकार के योग का अभ्यास करने से साधक को राजयोग के पद की प्राप्ति होती है।

हठ सिद्धि के लक्षण

वपु: कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले। अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनम् नाडीविशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणम् ॥78

भावार्थ : हठ सिद्धि के लक्षण बताते हुए कहा है कि शरीर में हल्कापन, मुख पर प्रसन्नता, अनाहत नाद का स्पष्ट रूप से सुनाई देना, नेत्रों का निर्मल हो जाना, शरीर से रोगों का अभाव हो जाना, बिन्दु पर विजय प्राप्त होना या नियंत्रण होना, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, नाड़ियो का पूरी तरह से शुद्ध हो जाना, ये सब हठयोग की सिद्धि के लक्षण हैं।

विशेष : इस श्लोक में हठयोग में सिद्धि प्राप्त हो जाने से शरीर में प्रकट होने वाले लक्षणों का वर्णन किया गया है। परीक्षा की दृष्टि से यह भी महत्त्वपूर्ण श्लोक है।

४ अध्याय ३

कुण्डलिनी का महत्त्व

सशैलवनधात्रीणां यथा धारोऽहिनायक: । सर्वेषां योगतन्त्राणां तथा धारो हि कुण्डली ॥1

भावार्थ : जिस प्रकार शेषनाग को वन पर्वतों सहित पूरी पृथ्वी का आधार माना जाता है । ठीक उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को सभी योग व तन्त्रों का आधार माना जाता है ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली । तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥2 ॥

भावार्थ : गुरु की विशेष कृपा या आशीर्वाद से जब साधक की सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति में चेतना आ जाती है अर्थात वह जाग्रत हो जाती है । तब साधक के सभी चक्र व ग्रन्थियाँ भी खुल जाती हैं । अर्थात उनमें भी ऊर्जा का संचार हो जाता है ।

प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते । तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥3 ॥

भावार्थ : सुषुम्ना नाड़ी प्राण के लिए शून्य अर्थात सुख को देने वाली व प्राण के प्रवाह का मुख्य मार्ग बन जाती है । तब साधक का चित्त आश्रय रहित हो जाता है अर्थात उसमें किसी भी प्रकार की वृत्ति शेष नहीं रहती । और तब न ही उसे मृत्यु का भय रहता है ।

ब्रह्मनाड़ी / सुषुम्ना नाड़ी के पर्यायवाची शब्द

सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्र महापथ: । श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचका: ॥4

भावार्थ : सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्यमार्ग यह सभी ब्रह्मनाड़ी / सुषुम्ना नाड़ी के ही पर्यायवाची शब्द हैं ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् । ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥5

भावार्थ : इसलिए सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर सोई हुई कुण्डलिनी को जगाने के लिए साधक को पूर्ण प्रयास के साथ मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ।

दस मुद्राएं

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।

उड्डीयान मूलबन्धस्ततो जालन्धरा भिध: ॥6

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्ति चालनम् । इदम् हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशनम् ॥7

भावार्थ : महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली व शक्तिचालन ये दस मुद्राएं हैं । इन मुद्राओं का अभ्यास करने से साधक के सभी रोग नष्ट होते हैं और साथ ही मृत्यु के लिए उत्तरदायी सभी कारण भी नष्ट हो जाते हैं ।

मुद्राओं की उपयोगिता

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् । वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥8

भावार्थ : आदिनाथ अर्थात भगवान शिव द्वारा उपदेशित यह दस प्रकार की मुद्राएं साधक को आठ प्रकार की दिव्य और ऐश्वर्य से युक्त सिद्धि प्रदान करवाती हैं । यह मुद्राएं सभी सिद्ध योगियों को प्रिय हैं तथा यह देवताओं को भी सहजता से प्राप्त नहीं होती हैं अर्थात उनके लिए यह दुर्लभ हैं ।

मुद्राओं की गोपनीयता

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् । कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥9 ॥

भावार्थ : जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नों (हीरे मोती) से भरी पिटारी को छुपाकर रखा जाता है । ठीक उसी प्रकार इन मुद्राओं को भी पूरी तरह से गुप्त रखना चाहिए । अनावश्य लोगों के सामने इनकी चर्चा नहीं करनी चाहिए । जैसे अच्छे कुल अर्थात घर की नारी सम्भोग आदि की चर्चा किसी के साथ नहीं करती ।

विशेष : यहाँ पर मुद्राओं को गुप्त रखने का अभिप्राय यह बिलकुल भी नहीं है कि हमें मुद्राओं का ज्ञान किसी को भी नहीं देना चाहिए । यहाँ पर गुप्त रखने का अर्थ है कि इन मुद्राओं का ज्ञान कभी भी किसी अयोग्य, दुष्ट या गलत व्यक्ति को नहीं देना चाहिए । क्योंकि अयोग्य व्यक्ति इस अमूल्य ज्ञान के महत्त्व को नहीं समझता । जिससे वह इसका उपहास (मजाक) उड़ाने का ही काम करेगा । और

यदि कोई दुष्ट व गलत व्यक्ति को इसका ज्ञान होता है तो वह इसका दुरुपयोग करने का काम करेगा । इसलिए इन अत्यंत उपयोगी व दिव्य शक्तियों को प्रदान कराने वाली मुद्राओं को गुप्त रखना चाहिए । पहले इस बात का पता लगाना चाहिए कि जिस व्यक्ति को हम यह ज्ञान देने जा रहे हैं । वह इसका पात्र है या नहीं ? जिस प्रकार श्लोक में अच्छे कुल की स्त्री का उदाहरण भी दिया गया है कि वह सम्भोग आदि गुप्त बातों की चर्चा किसी के सामने नहीं करती हैं । ऐसा करने से उनकी छवि व सम्मान दोनों की हानि होती है । तभी इन मुद्राओं को अत्यंत गोपनीय रखने की बात कही है ।

महामुद्रा वर्णन

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणाम् । प्रसारितं पादं कृत्वां कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥10

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वत: । यथा दण्डहत: सर्पो दण्डाकार: प्रजायते ॥11

ऋज्वीभूता तथा शक्ति: कुण्डली सहसा भवेत् । तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥12

भावार्थ : अपने बायें पैर की एड़ी से सीवनी प्रदेश (योनि) को दबाकर दूसरे अर्थात दायें पैर को भूमि पर सामने की तरफ फैलाकर उसे दोनों हाथों से मजबूती के साथ पकड़े । अब प्राणवायु को अन्दर भरकर जालन्धर बन्ध लगाएं । जिस प्रकार सर्प डण्डे की चोट खाकर डण्डे की तरह ही सीधा हो जाता है । ठीक उसी प्रकार महामुद्रा करने से कुण्डली शक्ति भी सीधी हो जाती है । ऐसा होने से दोनों नासिकाओं से आने जाने वाली प्राणवायु की क्रियाशीलता लुप्तप्राय हो जाती है ।

तत: शनै: शनैरेव रेचयेन्न तु वेगत: । इयं खलु महामुद्रा महासिद्धै: प्रदर्शिता ॥13

भावार्थ : उसके बाद अर्थात महामुद्रा को करने के बाद जालन्धर बन्ध को हटाकर श्वास को धीरे धीरे बाहर छोड़ना चाहिए । श्वास को छोड़ने में कभी भी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए । महासिद्ध योगियों ने इसे महामुद्रा कहते हुए इसका वर्णन किया है ।

विद्वानों द्वारा महामुद्रा की प्रशंसा

महाक्लेशादयो दोषा: क्षीयन्ते मरणादय: । महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमा: ॥14

भावार्थ : महामुद्रा करने से महक्लेश रूपी सभी दोष तथा मृत्यु रूपी दुःख भी नष्ट हो जाते हैं । इसीलिए विद्वानों में भी जो श्रेष्ठ हैं उन्होंने इस मुद्रा को महामुद्रा कहा है ।

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् । यावतुल्या भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥15

भावार्थ : बायीं ओर से (बायें पैर से) महामुद्रा का अभ्यास करने के बाद दोबारा इसका दायीं ओर से (दायें पैर से) अभ्यास करें । जब दोनों पैरों से इसका एक समान अभ्यास हो जाए तब महामुद्रा के अभ्यास को समाप्त कर दें ।

महामुद्रा के लाभ

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसा: सर्वेऽपि नीरसा: । अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥16

भावार्थ : महामुद्रा का अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि इतनी प्रबल हो जाती है कि उसके लिए किसी भी प्रकार का भोजन पचने अथवा न पचने वाला नहीं रहता । वह सभी प्रकार के आहार को आसानी से पचा लेता है । बिना रस वाला आहार भी उसके लिए रसयुक्त हो जाता है । इसके अलावा वह भयानक जहर को भी इस प्रकार पचा लेता है जैसे कि वह अमृत हो ।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्ण पुरोगमा: । तस्य दोषा: क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥17

भावार्थ : महामुद्रा के अभ्यास से साधक के क्षय (तपेदिक या टीबी) कुष्ठ (चर्म रोग) कब्ज, गुल्म (वायु गोला) अजीर्ण (अपच) व इनसे सम्बंधित अन्य कई प्रकार के रोग भी समाप्त हो जाते हैं ।

महामुद्रा की गोपनीयता

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् । गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥18

भावार्थ : मनुष्यों को असंख्य सिद्धियाँ प्रदान कराने वाली इस महामुद्रा को पूरे प्रयास के साथ गुप्त रखना चाहिए । इसका वर्णन किसी को भी नहीं करना चाहिए अर्थात चाहे जिसको भी इसका वर्णन नहीं करना चाहिए । इसे गुप्त ही रखना चाहिए ।

महाबन्ध वर्णन

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् । वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥19

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् । निष्पीड्य योनिमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥20

भावार्थ : बायें पैर की एड़ी को सीवनी प्रदेश (योनि स्थान) पर अच्छे से टिका दें । दायें पैर को बायीं जंघा पर रखें । अब प्राणवायु को शरीर के अन्दर भरकर ठुड्डी को मजबूती के साथ छाती पर लगाएं । (जालन्धर बन्ध लगाएं) साथ ही योनिस्थान का आकुंचन करें अर्थात मूलबन्ध का प्रयोग करते हुए मन को सुषुम्ना नाड़ी में लगाना चाहिए ।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः । सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥21

भावार्थ : जालन्धर बन्ध को हटाते हुए शरीर के अन्दर रोकी हुई प्राणवायु को धीरे धीरे बाहर निकाले । इस प्रकार बायीं तरफ से इसका अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं ओर से भी इसका उसी प्रकार से अभ्यास करें ।

जालन्धर बन्ध के विषय में सुझाव

मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत् । राजदन्तस्थ जिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥22

भावार्थ : यहाँ पर कुछ विद्वानों का यह मानना है कि महाबन्ध का अभ्यास करते हुए इसमें जालन्धर बन्ध को न लगाकर उसकी जगह पर जिह्वा (जीभ) को मुख्य दाँतो अर्थात आगे वाले दाँतो के साथ लगाना ज्यादा उचित है ।

महाबन्ध से महासिद्धि की प्राप्ति

अयन्तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः । अयं खलु महाबन्धो महासिद्धि प्रदायकः ॥23

भावार्थ : यह महाबन्ध सभी नाड़ियों की ऊपर की ओर प्रवाहित होने वाली गति को रोकता है । जिससे निश्चित रूप से यह महाबन्ध साधक को महान सिद्धियाँ प्रदान करवाने वाला होता है ।

महाबन्ध का फल

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः । त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥24

भावार्थ : यह महाबन्ध साधक को मृत्यु रूपी बन्धन से मुक्ति प्रदान करवाने वाला है । साथ ही यह इडा, पिङ्गला व सुषुम्ना नाड़ियों का संगम करवाता है और मन को शिव स्थान अर्थात आज्ञा चक्र में स्थिर करता है ।

महावेध का महत्त्व

रूपलावण्य सम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं बिना । महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥25

भावार्थ : जिस प्रकार पुरुष के बिना सुन्दर स्त्री पूर्ण नहीं होती अर्थात उसका कोई महत्त्व नहीं होता । ठीक उसी प्रकार महावेध मुद्रा की साधना के बिना महामुद्रा व महाबन्ध मुद्रा की साधना पूर्ण नहीं होती अर्थात महावेध मुद्रा के बिना महामुद्रा व महाबन्ध का कोई महत्त्व नहीं होता ।

महावेध मुद्रा विधि

महावेधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः । वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥26

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः । पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥27

सोम सूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै । मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥28

भावार्थ : योगी साधक को पूरी तरह से एकाग्रचित्त होकर, महावेध मुद्रा की स्थिति लेकर, (महाबन्ध वाली अवस्था) श्वास प्रश्वास की गति को रोककर, वायु को शरीर के अन्दर भरकर उसे अन्दर ही रोकते हुए जालन्धर बन्ध का प्रयोग करना चाहिए । अब अपने दोनों हाथों को जमीन पर टिकाकर दोनों नितम्बों को ऊपर उठाकर वापिस जमीन पर पटकना चाहिए । इस प्रकार करने से प्राण दोनों नासिका छिद्रों (इडा व पिङ्गला) को छोड़कर मध्यमार्ग अर्थात सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाता है । इस प्रकार इडा नाड़ी (चन्द्र नाड़ी) व पिङ्गला नाड़ी (सूर्य नाड़ी) परस्पर सुषुम्ना नाड़ी में जाकर मिल जाती हैं । जिससे साधक को अमरता की प्राप्ति होती है । साथ ही साधक का प्राण पर पूर्ण अधिकार हो जाता है । जिससे वह मृत्यु की अवस्था के समान अपने प्राण को नियंत्रित कर सकता है । इसके बाद साधक को उस प्राणवायु का रेचन अर्थात उसे बाहर निकालना चाहिए । यही महावेध मुद्रा कहलाती है ।

महावेध का फल

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः । वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥29

भावार्थ : महावेध मुद्रा का अभ्यास करने से साधक को बहुत बड़ी बड़ी सिद्धियों की प्राप्ति होती है । साथ ही कभी भी उसके शरीर में झुर्रियां नहीं पड़ती, बाल सफेद नहीं होते व शरीर की कम्पन भी दूर होती है । इसीलिए योग्य अर्थात उत्तम साधक इस मुद्रा का अभ्यास करते हैं ।

एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशमम् । वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥30

भावार्थ : महाबन्ध, महामुद्रा और महावेध मुद्राओं को पूरी तरह से गुप्त रखना चाहिए । इनका अभ्यास बुढ़ापा व मृत्यु को दूर करता है । जठराग्नि को मजबूत करती हैं । साथ ही अणिमा आदि सिद्धियाँ प्रदान करती हैं ।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने । पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा । सम्यक् शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥31

भावार्थ : साधक को इन मुद्राओं का अभ्यास दिनभर में आठ बार करना चाहिए । यह साधकों के सभी प्रकार के पाप नष्ट करके उसे पुण्य प्रदान करने वाली होती हैं । अच्छे व बुद्धिमान साधकों को शुरुआती समय में इनका अभ्यास कम मात्रा में (थोड़े समय तक) करना चाहिए ।

खेचरी मुद्रा वर्णन

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥32

भावार्थ : अपनी जिह्वा को उल्टी करके गले में स्थित तालु प्रदेश के छिद्र में प्रविष्ट (डाल) कराकर दृष्टि को भ्रूमध्य (दोनों भौहों) के बीच में स्थिर करना खेचरी मुद्रा होती है ।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् । सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः ॥33

भावार्थ : अपनी जीभ को काटना, उसको आगे पीछे चलाना और उसका दोहन अर्थात् उसे पकड़ कर खीचना आदि क्रियाओं का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि जीभ दोनों भौहों के बीच के भाग को न छू ले । ऐसा करने से ही खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है ।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् । समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥34

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् । पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोम मात्रं समुच्छिनेत् ॥35

एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तःसमाचरेत् । षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः पर्णश्यति ॥36

भावार्थ : स्नुही (थुअर) के पत्ते समान तेज धारवाला, चिकना, कीटाणु रहित अर्थात पूर्ण स्वच्छ शस्त्र (हथियार) लेकर, जीभ के मूल भाग (जीभ को उल्टा करने पर जो पतली खाल दिखाई देती है) को रोमछिद्र के बाल की मोटाई जितने भाग को काटें । इसके बाद सेंधा नमक व हरड़ के चूर्ण का अपनी जीभ के कटे हुए भाग पर घर्षण करें और सात दिन के बाद एक बार फिर से उस हिस्से को बाल के बराबर काटें ।

ऊपर वर्णित विधि का निरन्तर छह महीने तक अभ्यास करने से जीभ के मूल में स्थित बन्ध (जिस भाग को प्रति सप्ताह काटा गया है) पूरी तरह से हट जाता है । जिससे जीभ के संचालन में सरलता हो जाती है ।

व्योमचक्र

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् । सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥37

भावार्थ : अपनी जीभ को उल्टी करके तालु प्रदेश के मूल में स्थित छिद्र (जहाँ पर तीनों नाडियों का संगम होता है) में लगाने से खेचरी मुद्रा कहलाती है । तालु प्रदेश के मूल भाग में स्थित वह छिद्र व्योमचक्र कहलाता है ।

विशेष : तालु में स्थित छिद्र को व्योमचक्र कहते हैं । यह परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी है ।

खेचरी मुद्रा के लाभ

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति । विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥38

भावार्थ : जो साधक अपनी जीभ को ऊपर ले जाकर दोनों भौहों के बीच में आधे क्षण भी लगाकर रखता है तो वह अनेक प्रकार के विषों, रोगों, मृत्यु व बुढ़ापे आदि से मुक्त हो जाता है । यह सभी बाधाएँ उसे प्रभावित नहीं कर पाती हैं ।

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा । न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥39

भावार्थ : खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाले साधक को न तो कभी कोई रोग होता है, न उसकी मृत्यु होती है, न उसमें मानसिक शिथिलता आती है, न उसे नींद बाधित करती है, न उसे कभी भूख प्यास परेशान करती है और न ही उसे कभी बेहोशी आती है ।

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा । बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥40

भावार्थ : खेचरी को जानने वाला साधक कभी भी रोगों से पीड़ित नहीं होता । न वह कर्मों के बन्धन में फंसता है और न ही उसे कभी मृत्यु अपने वश में कर पाती है ।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता । तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥41

भावार्थ : इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने से साधक का चित्त हृदय आकाश में स्थित हो जाता है अर्थात् वह शून्य भाव में रहता है । जीभ व्योमचक्र में स्थित हो जाती है । इसलिए सिद्ध योगी इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ।

बिन्दु (वीर्य) पर पूर्ण नियन्त्रण

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वत: । न तस्य क्षरते बिन्दु: कामिन्याश्लेषितस्य च ॥42

चलितोऽपि यदा बिन्दु: सम्प्राप्तो योनिमण्डलम् । व्रजत्यूर्ध्वं हृत: शक्तया निबद्धो योनिमुद्रया ॥43

भावार्थ : जिस भी साधक ने खेचरी मुद्रा के अभ्यास द्वारा अपने तालु प्रदेश में स्थित व्योमचक्र के छिद्र को बन्द कर दिया है । उसका बिन्दु अर्थात् वीर्य अत्यन्त कामुक (काम वासना से परिपूर्ण) स्त्री के आलिङ्गन करने पर भी स्खलित (बाहर / नष्ट) नहीं होता । और यदि वह वीर्य स्खलित होकर स्त्री की योनि में पहुँच भी जाए तो भी साधक द्वारा योनिमुद्रा की शक्ति से उसे पुनः ऊपर खींच लिया जाता है ।

ऊर्ध्वजिह्व: स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति य: । मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥44

भावार्थ : जो भी योग साधक अपनी जीभ को ऊपर की ओर उठाकर स्वयं को स्थिर करते हुए ऊपर (व्योमचक्र) से टपकते हुए अमृत का पान (पीता) करता है । वह मात्र पन्द्रह दिनों में ही मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त कर लेता है । इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है ।

नित्यं सोमकला पूर्णं शरीरं यस्य योगिन: । तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥45

भावार्थ : जिस योगी साधक का शरीर सदैव उस सोमरूपी अमृत से भरा रहता है । उसका शरीर भयंकर विष के प्रभाव से भी रहित हो जाता है अर्थात् अत्यंत जहरीले सर्प द्वारा काटने पर भी उसके शरीर में जहर नहीं फैलता ।

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपक: । तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥46

भावार्थ : जिस तरह अग्नि इन्धन को छोड़ती, दीपक की लौ तेल से भीगी बत्ती को नहीं छोड़ता । ठीक उसी प्रकार सोमरूपी अमृत से भरे हुए शरीर को आत्मा नहीं छोड़ती अर्थात् वह साधक मृत्यु को जीत लेता है ।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् । कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातका: ॥47

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि । गोमांस भक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥48

भावार्थ : जो साधक प्रतिदिन गोमांस को खाता है और देवीसुरा अर्थात अमृत को पीता है । उसे मैं अच्छे कुल का मानता हूँ और अन्य सभी तो कुल का नाश करने वाले होते हैं । यहाँ पर गो शब्द का अर्थ है जीभ और तालु प्रदेश में उसका प्रवेश करने का अर्थ भक्षण (खाना) हैं । यह गोमांस भक्षण अर्थात् जिह्वा को तालु प्रदेश में प्रवेश करवाने से साधक के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । यह सभी पापों का नाश करता है ।

विशेष : यहाँ इस श्लोक में गोमांस भक्षण शब्द का प्रयोग किया गया है । जिसमें गो शब्द का अर्थ जीभ का पर्यायवाची है और उस जीभ का तालु प्रदेश में प्रवेश करना मास को खाने का पर्यायवाची है । इसका अर्थ गाय का मास खाना बिलकुल भी नहीं है । गाय के मास को योग शास्त्र में निषेध तथा घोर निन्दनीय बताया है ।

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादित: खलु । चन्द्रात् स्रवति य: सार: सा स्यादमरवारुणी ॥49

भावार्थ : जब साधक खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हुए अपनी जीभ को तालु प्रदेश में प्रवेश करवाता है तो उससे गर्मी उत्पन्न होती है । उस गर्मी से तालु के मूल भाग में से एक प्रकार का रस निकलता है । जिसे अमर वारुणी अर्थात् मृत्यु पर विजय प्राप्त करवाने वाला अमृत कहा गया है ।

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा । व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥50

भावार्थ : हमारी जीभ नमकीन, कड़वे, खट्टे, दूध,घी व शहद के समान रस को अनुभव करने वाली होती है । यदि साधक अपनी जीभ के अगले हिस्से (अग्रभाग) से तालु प्रदेश को स्पर्श करवाकर वहाँ से बहने वाले अमृत रस का पान (पीता) करता रहता है तो उसके सभी रोग नष्ट हो जाते हैं । बुढापा दूर हो जाता है तथा उसे अनेक शास्त्रों का ज्ञान अपने आप ही प्राप्त हो जाता है । इससे साधक की आयु आठ गुणा तक बढ़ती है और सभी सिद्धजनों की स्त्रियाँ उसकी तरफ आकर्षित होती हैं ।

ऊर्ध्व: षोडशपत्रमध्यगलितं प्राणादवाप्तं हठात् उर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् । उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं य: पिबेत् निर्व्याधि: स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥51

भावार्थ : जो भी योग साधक अपनी जीभ को तालु प्रदेश के मूल में ऊपर से नीचे तक स्थापित करके उस परम शक्ति का ध्यान करते हुए उस सोलह पंखुड़ियों वाले पद्म से निकलने वाले चन्द्र रस की निर्मल व गतिशील धारा को पीता है । वह साधक रोग मुक्त व कमल की नाल की तरह अत्यंत कोमल होकर बहुत लम्बे समय तक जीवित रहता है ।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरु मूर्धान्तरस्थम् तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् । चन्द्रात् सार: स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणाम् तद् बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धि: ॥52

भावार्थ : मेरुदण्ड व मस्तिष्क के बीच में जो छिद्र है। उसमें ही इस पूरे जीवन का सार बहता है। यही वह स्थान है जहाँ पर इडा, पिङ्गला व सुषुम्ना नाड़ियों का मिलन होता है। इसी स्थान से चन्द्र से प्रवाहित होने वाला रस टपकता है। इस अमृत रस के नष्ट होने से ही मनुष्य की मृत्यु होती है। उत्तम साधकों को इस अमृत रस को विधिपूर्वक शरीर के अन्दर रोकना चाहिए। इसको सुरक्षित किये बिना साधक को किसी भी कार्य में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

सुषिरं ज्ञान जनकं पञ्चस्रोत: समन्वितम् । तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥53

भावार्थ : सभी दोषों से रहित सुषुम्ना नाड़ी में चेतना के पाँच स्रोत हैं। जो शरीर में उर्जा को निरन्तर प्रवाहित करने का काम करते हैं। उसमें ही खेचरी विद्यमान रहती है या उसी में खेचरी मुद्रा पूर्ण होती है।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी । एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥54

भावार्थ : इस श्लोक में चार मुख्य पदार्थों का वर्णन किया गया है। जिनमें एक इस सृष्टि का मूल अर्थात प्रकृति है। दूसरा मुद्राओं में एक ही मुद्रा अर्थात् खेचरी मुद्रा है। तीसरा सबको आश्रय देने वाला अर्थात् एक परमेश्वर व एकमात्र अवस्था अर्थात् एक ही मनोन्मनी अवस्था है। मनोन्मनी अवस्था को ही समाधि कहा जाता है।

उड्डीयान बन्ध

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राण स्तूड्डीयते यत: । तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभि: समुदाहृत: ॥55

भावार्थ : रुके हुए प्राण को ऊपर की ओर सुषुम्ना नाड़ी में ले जाने के कारण ही योगियों ने इस विधि को उड्डीयान बन्ध कहा है।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखग: । उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥56

भावार्थ : जिस विधि से प्राण का प्रवाह आकाश अर्थात् निरन्तर ऊपर की ओर प्रवाहित होता रहता है। उसी योग क्रिया को उड्डीयान बन्ध कहते हैं। प्राण को उर्ध्वगामी बनाने के लिए ही उड्डीयान बन्ध का अभ्यास किया जाता है।

उड्डीयान बन्ध विधि

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् । उड्डीयानो ह्यसौ बन्धौ मृत्युमातङ्गकेसरी ॥57

भावार्थ : पेट के नाभि से ऊपर वाले हिस्से को अपनी रीढ़ की तरफ खींचना ही उड्डीयान बन्ध कहलाता है। यह मृत्यु रूपी हाथी के आगे सिंह अर्थात् शेर के समान है। इसके अभ्यास से साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

विशेष : श्वास को बाहर निकाल कर पेट को खाली कर लें। इसके बाद पेट को सामर्थ्य के अनुसार कमर की ओर खीचना चाहिए। यह विधि उड्डीयान बन्ध कहलाती है।

उड्डीयान बन्ध लाभ

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं यथा । अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥58

भावार्थ : गुरु द्वारा बताई गई इस सहज विधि (उड्डीयान बन्ध) का विधिपूर्वक अभ्यास करने से बुढ़ा व्यक्ति भी पुनः युवा (जवान) हो जाता है।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नत: । षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशय: ॥59

भावार्थ : नियमित रूप से पूरे प्रयास के साथ नाभि के ऊपर व नीचे के भाग को पीठ की ओर खींचने से (उड्डीयान बन्ध) योगी साधक छः महीने में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानक: । उड्डीयाने दृढे बद्धे मुक्ति: स्वाभाविकी भवेत् ॥60

भावार्थ : यह उड्डीयान बन्ध बाकी सभी बन्धों में सबसे श्रेष्ठ है। उड्डीयान बन्ध के सिद्ध होने पर स्वभाविक रूप से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

मूलबन्ध विधि वर्णन

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् । अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥61

भावार्थ : पैर की एड़ी से सीवनी प्रदेश अर्थात् अण्डकोश के नीचे के मूल भाग को दबाकर गुदा का आकुञ्चन करना चाहिए। अब अपान वायु को ऊपर की ओर खींचने की क्रिया को ही मूलबन्ध कहते हैं।

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् । आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिन: ॥62

भावार्थ : यह अपान वायु पंच प्राण का ही एक अंग है जिसकी गति सामान्य रूप से नीचे (गुदा) की ओर रहती है । उस अपान वायु को बलपूर्वक ऊपर की ओर खींचकर वहीं पर रोकने को योगियों ने मूलबन्ध कहा है ।

गुदं पाष्ण् र्या तु सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् बलात् । वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरण: ॥63

भावार्थ : एड़ी से गुदा को अच्छी तरह से दबाकर अपान वायु को बार बार बलपूर्वक ऊपर की ओर खींचने से अपान वायु ऊपर की ओर आ जाती है ।

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् । गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशय: ॥64

भावार्थ : मूलबन्ध के सिद्ध होने पर प्राण वायु व अपान वायु और अनाहत नाद व वीर्य इन सभी में एकरूपता आ जाती है अर्थात् इनका आपस में मिलन हो जाता है । जिससे साधक का योग सिद्ध हो जाता है । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयो: । युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥65

भावार्थ : नियमित रूप से मूलबन्ध का अभ्यास करने से प्राण वायु व अपान वायु में एकरूपता आ जाती है । जिसके फलस्वरूप साधक के शरीर में मल मूत्र की मात्रा में कमी आ जाती है और वृद्ध व्यक्ति भी युवा हो जाता है ।

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् । तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥66

भावार्थ : जब अपान वायु को मूलबन्ध के द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है तो वह ऊपर की ओर बढ़ने लगती है । जैसे ही वह अपान वायु नीचे से ऊपर की ओर बढ़ती हुई जठराग्नि तक पहुँचती है तो उस वायु से प्रेरित होकर साधक की जठराग्नि और भी ज्यादा प्रदीप्त (मजबूत) हो जाती है ।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् । तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥67

भावार्थ : तब जठराग्नि व अपान वायु की अग्नि बढ़ने से वह शरीर में स्थित प्राण को भी उष्ण (गर्म) कर देते हैं । जिससे शरीर में भी अग्नि अत्यंत तीव्र रूप से बढ़ती है ।

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते । दण्डाहता भुजङ्गीव नि:श्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥68

भावार्थ : इस प्रकार शरीर में अग्नि के बढ़ने से शरीर में सोई हुई कुण्डलिनी भी जाग्रत अवस्था में आ जाती है । उसके बाद वह उसी प्रकार सीधी हो जाती है जिस प्रकार डण्डे से मार खाने पर सर्प सीधा हो जाता है ।

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् । तस्मान्नित्यं मूलबन्ध: कर्तव्यो योगिभि: सदा ॥69

भावार्थ : अब जब कुण्डलिनी जाग्रत अवस्था में आ गई है तब वह ब्रह्मनाड़ी में ठीक वैसे ही प्रवेश कर जाती है जिस प्रकार सर्प बिल में प्रवेश करता है । अतः योगी साधक को नियमित रूप से मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए ।

जालन्धर बन्ध वर्णन

कण्ठ माकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् । बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशक: ॥70

भावार्थ : कण्ठ प्रदेश को सिकोड़ कर ठुड्डी को छाती पर मजबूती से लगाना जालन्धर बन्ध कहलाता है । इसका अभ्यास करने से साधक बुढ़ापा और मृत्यु से पर विजय प्राप्त कर लेता है ।

बध्नाति हि शिराजालमधोगामिनभोजलम् । ततो जालन्धरो बन्ध: कण्ठदु:खौघनाशन: ॥71

भावार्थ : जालन्धर बन्ध में कण्ठ के सिकुड़ने से वहाँ स्थित सभी नाड़ियों का भी संकोच हो जाता है । जिससे आकाश जल अर्थात् कण्ठ से निकलने वाले अमृत का भी संकोच हो जाता है । इस प्रकार वह अमृत नीचे नहीं टपकता बल्कि वहीं पर रुक जाता है । इस जालन्धर बन्ध के अभ्यास से कण्ठ अर्थात् गले के सभी रोग समाप्त हो जाते हैं ।

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायु: प्रकुप्यति ॥72

भावार्थ : कण्ठ का संकोच अर्थात् सिकुड़ने से जब जालन्धर बन्ध लगता है तो वह कण्ठ से बहने वाला अमृत जठराग्नि तक नहीं पहुँच पाता । जिससे साधक के अन्दर वात का प्रकोप अर्थात् उसका प्रभाव भी नहीं बढ़ता है । इससे वात से सम्बंधित रोग होने की सम्भावना भी कम हो जाती है ।

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् । मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥73

भावार्थ : कण्ठ के संकोचन अर्थात् जालन्धर बन्ध से इडा व पिङ्गला दोनों ही नाड़ियों को मजबूती से रोका जाता है । इसे मध्य चक्र कहा जाता है । वहीं इस स्थान को विशुद्धि चक्र भी कहते हैं । इसका अभ्यास करने से शरीर के सभी सोलह (16) आधारों पर साधक का नियंत्रण अथवा स्थिरता प्राप्त होती है ।

विशेष : यह सोलह आधार निम्न हैं

1 पाँव का अंगुठा
2 टखना
3 घुटना
4 जंघा
5 सीवनी या योनि प्रदेश
6 लिंग
7 नाभि
8 हृदय
9 गर्दन
10 कण्ठ प्रदेश
11 जीभ
12 नासिका
13 भ्रूमध्य या भौहें
14 ललाट या माथा
15 मूर्धा या माथे का ऊपरी हिस्सा
16 ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् सिर का सबसे ऊपरी भाग ।

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् । इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि ॥74

भावार्थ : गुदा प्रदेश का आकुंचन अर्थात् गुदा को अन्दर की ओर खींच कर (मूलबन्ध लगाकर) उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करना चाहिए । इडा व पिङ्गला नाड़ियों को रोककर अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाकर प्राणवायु को सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित करना चाहिए ।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् । ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥75

भावार्थ : इस विधि का उपयोग करने से साधक की प्राण शक्ति ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है । जिससे अभ्यास करने वाला साधक बुढ़ापे व मृत्यु आदि से सदैव सुरक्षित रहता है ।

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् । सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥76

भावार्थ : महान व सिद्ध योगियों द्वारा प्रयोग किए गए उपर्युक्त तीनों बन्धों (मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध) को श्रेष्ठ बताया गया है । इनके सिद्ध हो जाने पर साधक की हठयोग की अन्य सभी क्रियाएँ भी सफल हो जाती हैं । एक प्रकार से इन तीनों बन्धों को हठयोग की अन्य क्रियाओं को सिद्ध करने के लिए आधार माना गया है ।

विपरीतकरणी वर्णन

यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः । तत् सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥77

भावार्थ : चन्द्र मण्डल से जिस दिव्य अमृत रस का स्राव (टपकता) होता है । उसका निरन्तर स्राव होने से उस अमृत रस को सूर्य मण्डल भस्म कर देता है । जिसके कारण मनुष्य में बुढ़ापा आता है ।

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् । गुरुपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥78

भावार्थ : उस दिव्य अमृत रस को सूर्य से बचाने के लिए एकमात्र उपाय गुरु द्वारा बताया गया मार्ग ही है अर्थात् गुरु द्वारा बताए गए उपदेश से ही उसे जाना जा सकता है इसके अलावा उसे करोड़ो शास्त्रों द्वारा भी नहीं जाना जा सकता ।

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी । करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥79

भावार्थ : नाभि प्रदेश से ऊपर सूर्य मण्डल और तालु प्रदेश के नीचे चन्द्र मण्डल स्थित होते हैं । विपरीत करणी मुद्रा में सूर्य नीचे व चन्द्र ऊपर की ओर हो जाते हैं । इस विपरीत करणी नामक मुद्रा को गुरु के निर्देशन में ही सीखना चाहिए ।

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी । आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्य: साधकस्य च । अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥80

भावार्थ : जो साधक नियमित रूप से विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करते हैं उनकी जठराग्नि बहुत तीव्र हो जाती है । इसलिए उस साधक को साधनाकाल में भोजन अच्छी मात्रा में करना चाहिए । उसे कभी भी भूखे पेट नहीं रहना चाहिए । यदि वह पर्याप्त मात्रा में उचित गुणवत्ता वाला भोजन नहीं करता है तो जठराग्नि की बढ़ी हुई अग्नि साधक के शरीर को जलाने लगती है । अतः विपरीत करणी के अभ्यासी साधको को भोजन उचित मात्रा में करना चाहिए ।

अध: शिरश्चोर्ध्वपाद: क्षणं स्यात् प्रथमे दिने । क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥81

भावार्थ : आरम्भ में साधक को इस विपरीत करणी मुद्रा का अभ्यास क्षण भर के लिए करना चाहिए । इसके बाद दिन प्रतिदिन इसके अभ्यास को धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए ।

विपरीत करणी मुद्रा का लाभ

वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते । याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥82

भावार्थ : लगातार छ: महीने तक विपरीत करणी मुद्रा का अभ्यास करने से साधक के शरीर में सिकुड़न अर्थात् झुर्रियां नहीं पड़ती व बाल भी सफेद नहीं होते । जो साधक प्रतिदिन ढाई घण्टे (2:30) तक इसका अभ्यास करता है वह मृत्यु को भी जीत लेता है ।

वज्रोली मुद्रा वर्णन

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना । वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥83

भावार्थ : जो भी साधक वज्रोली क्रिया को करना जानता है । वह बिना योग साधना के नियमों का पालन किए भी अपनी मनमर्जी से जीवन को जीते हुए योग साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है ।

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् । क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नाडी च वश्वर्तिनी ॥84

भावार्थ : इस वज्रोली मुद्रा की साधना में मुख्य रूप से दो वस्तुओं को दुर्लभ (जो कठिनता से प्राप्त होती हैं) माना गया है । जिनमें पहला है दूध और दूसरी है पूरी तरह से वश में रहने वाली स्त्री । ऊपर वर्णित दोनों वस्तुएं जिसके पास हैं । वह वज्रोली मुद्रा की साधना कर सकता है ।

मेहनेन शनै: सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् । पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥85

भावार्थ : कोई भी स्त्री हो या पुरुष जो भी अपने योनिमण्डल अर्थात् अपने अपने मूत्र मार्गों से योनिस्थान का आकुञ्चन (मूलबन्ध वाली अवस्था) करने का अभ्यास करता है । वह वज्रोली मुद्रा को सिद्ध कर लेता है ।

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे । शनै: शनै: प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात् ॥86

भावार्थ : धीरे धीरे प्रयास करते हुए साधक को अपने मूत्र मार्ग में वायु का संचार करने के लिए चिकनी नली के माध्यम से मुहँ द्वारा वायु का प्रवेश करवाने का प्रयास करना चाहिए । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भोजन पकाते हुए मन्द पड़ी हुई अग्नि को पुनः प्रज्वलित करने के लिए हम फूंक मारते हैं ।

विशेष : एक पतली व चिकनी नली लेकर उसे धीरे धीरे अपने मूत्र मार्ग में डाले । इसके बाद अपने मुहँ द्वारा उस नली के दूसरे छोर (ओर) से वायु को अन्दर की तरफ भेजें । जिससे वायु का संचार आसानी से हो जाए ।

नारीभगे पतद् बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् । चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वाकृष्य रक्षयेत् ॥87

भावार्थ : सम्भोग के समय जब पुरुष के वीर्य का स्खलन अर्थात् वीर्यपात आरम्भ होकर स्त्री की योनि में वीर्य गिरता है । उस समय पुरुष को गिरते हुए वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित करके (मूलबन्ध द्वारा) वीर्य की रक्षा करनी चाहिए ।

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् । मरणं बिन्दुंपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥88

भावार्थ : वीर्य की हानि अर्थात् वीर्यपात मृत्यु का प्रतीक है और वीर्य की रक्षा जीवन का । अतः जो साधक वीर्य की रक्षा कर लेता है । वह मृत्यु को भी जीत लेता है ।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् । यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत् कालभयं कुत: ॥89

भावार्थ : बिन्दु अर्थात् वीर्य को सुरक्षित रखने से साधक का शरीर सुगन्ध से युक्त हो जाता है । जब तक साधक के शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है तब तक उसे मृत्यु का भय नहीं रहता ।

वीर्य रक्षा में चित्त की उपयोगिता

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् । तस्माच्छुक्रं रक्षणीयं योगिभिश्च प्रयत्नत: ॥90

भावार्थ : सभी मनुष्यों का वीर्य सदा उनके चित्त के ही नियंत्रण में होता है । इसलिए साधक को अपने चित्त पर पूर्ण नियंत्रण रखते हुए वीर्य की रक्षा करनी चाहिए ।

विशेष : यहाँ इस श्लोक में चित्त के विषय में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका का वर्णन किया गया है । बहुत सारे व्यक्तियों का मानना है कि वीर्य का पतन व रक्षा दोनों में ही हमारे शरीर का ही योगदान होता है । जबकि यह पूर्ण रूप से हमारे चित्त अथवा मन का विभाग है । वीर्य की रक्षा व पतन दोनों ही हमारे चित्त अथवा मन के द्वारा सम्भव होते हैं । कामुकता और संयम ये दोनों ही चित्त के विषय होते हैं । हमारा शरीर तो मात्र इनकी इच्छा को पूरा करने के लिए साधन के रूप में कार्य करता है । वीर्य को चित्त अथवा मन द्वारा ही पूर्ण रूप से वश में किया जा सकता है । यह बहुत सारे आचार्यों द्वारा उपदेशित व अनुभव किया हुआ प्रमाण है । यहाँ तक की जब कोई पुरुष अत्यंय खूबसूरत स्त्री के साथ सम्भोग आदि क्रिया करता है तो वह अपने वीर्य को चित्त व मन के संयम से ही सुरक्षित रखता है । जिन व्यक्तियों का सम्भोग के दौरान जल्दी वीर्यपात हो जाता है । उसके लिए उनका कमजोर चित्त अथवा मन ही दोषी होता है । जिस साधक ने अपने चित्त अथवा मन के ऊपर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लेने पर संसार की कोई भी स्त्री सम्भोग के दौरान उसका वीर्यपात नहीं करवा सकती । चित्त अथवा मन के पूर्ण रूप से नियंत्रण में होने से वह अपने वीर्य का स्वामी बन जाता है । अतः उसकी इच्छा के बिना उसके वीर्य का पतन असम्भव है । इसलिए साधक को अपने चित्त को अपने नियंत्रण में करने के लिए योग साधना की आवश्यक साधनाओं का अभ्यास करना चाहिए ।

ऋतुमत्या: रजोऽप्येवं बीजं विन्दुं च रक्षयेत् । मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥91

भावार्थ : वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से साधक ऋतुमती स्त्री (जिस स्त्री को मासिक धर्म आदि नियमित रूप से आते हो) के रज को जो कि बीज रूप होता है और वीर्य को अपने जननेन्द्रिय (लिंग) अंग द्वारा ऊपर की ओर खींचना चाहिए ।

सहजोली वर्णन

सहजोलीश्चामरोलीर्वज्रोल्या एव भेदत: । जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम् ॥92

वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसो: स्वाङ्गले पनम् । आसीनयो: सुखेनैव मुक्तव्यापारयो: क्षणात् ॥93

भावार्थ : सहजोली व अमरोली वज्रोली मुद्रा के ही दो प्रकार हैं । इनमें सहजोली क्रिया को बताते हुए कहा है कि योगी साधक अथवा साधिका दोनों ही वज्रोली क्रिया करने के बाद जले हुए गोबर की उत्तम भस्म (राख) को पानी में मिलाकर अपने अपने जननेन्द्रियों (लिंग व योनि) अंगों पर लेप करके लगाएं । यह क्रिया सहजोली कहलाती है । इसको करने के बाद साधक को कुछ समय तक सुखपूर्वक बैठना चाहिए ।

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभि: सदा । अयं शुभकरो योगो योगिमुक्तिविमुक्तिद: ॥94

भावार्थ : सभी योग अभ्यासों में सहजोली क्रिया को सदैव अत्यन्त शुभकारी अर्थात् अच्छा फल प्रदान करने वाली कहा गया है । यह साधकों को मुक्ति व विशिष्ट मुक्ति प्रदान करवाने वाली होती है ।

अयं योग: पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् । निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥95

भावार्थ : इस सहजोली क्रिया का अभ्यास पुण्य अर्थात् धार्मिक, धैर्य से युक्त व तत्त्वज्ञानियों अर्थात् यथार्थज्ञान रखने वाले, ईर्ष्या रहित और तृप्त अथवा शान्त (जो किसी वस्तु को पाने की इच्छा न रखते हों) साधकों को ही सिद्ध होता है ।

अमरोली वर्णन

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निस्सारतयान्त्यधाराम् । निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥96

अमरीं य: पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने । वज्रोलीमभ्यसेत् सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥97

भावार्थ : मूत्र विसर्जन (मूत्र त्याग) के समय मूत्र की पहली धार जिसमें पित्त की मात्रा अधिक होती है व आखिरी धार जो सार रहित होती है इन दोनों को छोड़कर मध्य अर्थात् बीच की धार को पीने का उपदेश सभी खण्ड कापालिकों द्वारा किया गया है । इस क्रिया को अमरोली कहा गया है । नित्य प्रति जो साधक अपनी नासिका के द्वारा अपने ही मूत्र को पीता है और साथ ही वज्रोली मुद्रा का भी अभ्यास करता है । इन दोनों के मिले हुए रूप को ही अमरोली क्रिया कहा जाता है ।

वज्रोली मुद्रा के लाभ

अभ्यासान्नि: सृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् । धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टि: प्रजायते ॥98

भावार्थ : वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करने के बाद जो श्वेत स्राव अर्थात् सफेद तरल पदार्थ को भस्म (गोबर के जले हुए अवशेष) के साथ मिलाकर उसे अपने माथे पर लगाने से साधक को दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है ।

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् । यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥99

तस्या: किञ्चिद्रजो नाशं न गच्छति न संशय: । तस्या: शरीरनादस्तु बिन्दुतामेव गच्छति ॥100

भावार्थ : अगर कोई महिला योग साधक अच्छी प्रकार से वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करके पुरुष के वीर्य को अपने अन्दर खींच कर अपने रज की रक्षा कर लेती है तो वह योगिनी कहलाती है । इस प्रकार अभ्यास करने से उस योगिनी के थोड़े से भी रज का नाश नहीं होता है । इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है जिसके फलस्वरूप उसके शरीर में स्थित नाद भी प्रकाश स्वरूप में उपस्थित हो जाता है ।

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ । वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छत: ॥101

भावार्थ : वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से अपने शरीर में स्थित वीर्य और रज का एक दूसरे के साथ मिलन होने पर योगी साधक को सभी प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है ।

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रज: सा हि योगिनी । अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥102

भावार्थ : जो महिला योग साधक आकुञ्चन प्रक्रिया (अन्दर की ओर खींचना) के द्वारा अपने रज को ऊर्ध्वगामी कर लेती है अर्थात् अपने रज को ऊपर की ओर खींच लेती है । वह निश्चित तौर से योगिनी होती है । उसे भूतकाल व भविष्य काल का ज्ञान हो जाता है । इसके अतिरिक्त उसे आकाश गमन की सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है ।

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगत: । अयं पुण्यकरो योगो भोगेभुक्तेऽपि मुक्तिद: ॥103

भावार्थ : वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से साधक का शरीर अनेक सिद्धियों से युक्त हो जाता है । इस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करने से भोग युक्त जीवन जीने वाले व्यक्तियों को भी मुक्ति मिल जाती है ।

शक्तिचालन मुद्रा वर्णन

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी । कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दा: पर्यायवाचका: ॥104

भावार्थ : कुटिलाङ्गी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली और अरुन्धती इन सभी शब्दों का एक ही अर्थ होता है अर्थात् यह सभी एक ही शब्द (कुण्डलिनी) के पर्यायवाची हैं । जहाँ जहाँ पर भी इन शब्दों का प्रयोग किया गया है । वहाँ पर उसका अर्थ यही (कुण्डलिनी) होगा ।

विशेष : इस श्लोक में कुण्डलिनी के सभी पर्यायवाची शब्दों को बताया गया है ।

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा किञ्चिकया हठात् । कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥105

भावार्थ : जिस प्रकार चाबी के द्वारा बन्द द्वार (दरवाजे) को बिना किसी प्रकार की मेहनत के आसानी से खोल दिया जाता है । ठीक उसी प्रकार योगी बिना किसी ज्यादा प्रयास के कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोल लेते हैं ।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् । मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥106

भावार्थ : जो मार्ग (रास्ता) सभी प्रकार के कष्टों से रहित होकर ब्रह्मस्थान तक पहुँचता है । उस मार्ग के द्वार (दरवाजे) को बन्द करके कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है ।

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्ति: सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् । बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥107

भावार्थ : कन्द (कुण्डलिनी का स्थान) के ऊपर कुण्डलिनी शक्ति सुप्त अवस्था अर्थात् निष्क्रिय रूप में पड़ी हुई है । उस कुण्डलिनी शक्ति की साधना करके ही साधक मोक्ष को प्राप्त करता है । लेकिन जो मूढ अर्थात् कम बुद्धि वाले लोग हैं उन सबके लिए तो यह बन्धन का कारण होती है । योग साधना को जानने वाला साधक ही इसकी उपयोगिता को जानता है ।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता । सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशय: ॥108

भावार्थ : यह कुण्डलिनी शक्ति सर्प की भाँति टेढ़ी मेढ़ी आकृति वाली होती है अर्थात् जिस प्रकार साँप टेढ़ा मेढ़ा होता है ठीक उसी प्रकार इस कुण्डलिनी की आकृति भी वैसी ही होती है । जो योग साधक इस कुण्डलिनी शक्ति को क्रियाशील (जागृत अवस्था) कर लेता है । नि: सन्देह वह मुक्त हो जाता है ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बाल रण्डां तपस्विनीम् । बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णो: परमं पदम् ॥109

भावार्थ : गंगा अर्थात् चन्द्र नाड़ी व यमुना अर्थात् सूर्य नाड़ी के बीच में तपस्विनी बालरण्डा अर्थात् कुण्डलिनी स्थित है । साधक को इस कुण्डलिनी शक्ति को पूरे प्रयत्न के साथ क्रियाशील करना चाहिए । यही विष्णु के परमपद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करवाने वाली शक्ति है ।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी । इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥110
भावार्थ : इडा नाड़ी अर्थात् चन्द्र नाड़ी को भगवती गंगा नदी व पिङ्गला अर्थात् सूर्य नाड़ी को यमुना नदी कहते हैं । इन दोनों नाड़ियों के बीच में बालरण्डा अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी स्थित है । जिसे कुण्डलिनी कहा जाता है ।
पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्ता मुद् बोधयेच्च ताम् । निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥111
भावार्थ : सोई हुई प्राणशक्ति या निष्क्रिय पड़ी हुई कुण्डलिनी शक्ति को पूंछ पकड़कर जगाना चाहिए । जिस प्रकार सोए हुए साँप को जगाते हैं । इस प्रकार उसे जगाने से वह सहज रूप से ही जागृत होकर ठीक उसी प्रकार ऊपर की ओर उठती है जिस प्रकार साँप जागने के बाद उठता है ।
कुण्डलिनी को जगाने की विधि
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् । प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥112
भावार्थ : मूलाधार में स्थित उस सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति को आधे पहर (डेढ़ घण्टे) तक दायीं नासिका से पूरक (श्वास ग्रहण करते हुए) करते हुए विधिपूर्वक जगाना चाहिए ।
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् । मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥113
भावार्थ : कन्द के लक्षण बताते हुए कहा है कि मूल स्थान से एक बित्ता अर्थात् हाथ को पूरा खोलने पर अंगूठे से लेकर सबसे छोटी अंगुली तक की जितनी दूरी होती है उसे एक बित्ता कहते हैं । यह लगभग नौ (9) इंच का होता है । चौड़ाई में चार अंगुल चौड़ा अर्थात् लगभग तीन (3) इंच चौड़ा होता है । साथ ही वह कोमल, स्वच्छ व सफेद वस्त्र में लिपटे हुए के समान होता है ।
अतः मूल स्थान से एक हाथ ऊपर, चार अंगुल चौड़े, स्वच्छ, कोमल व सफेद वस्त्र में लिपटे हुए के समान कन्द का लक्षण बताया गया है ।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् । गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥114
भावार्थ : वज्रासन में बैठकर दोनों हाथों से अपने दोनों पैरों के टखनों को मजबूती के साथ पकड़े और एड़ियों से कन्द प्रदेश को जोर (पूरे दबाव) से दबाएं ।
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् । कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥115
भावार्थ : इस प्रकार वज्रासन में स्थित होकर (बैठकर) साधक कुण्डलिनी को चलाए । इसके बाद भस्त्रिका प्राणायाम करे । ऐसा करने से कुण्डलिनी शीघ्र (जल्दी) जागृत हो जाती है ।
भानोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत्ततः । मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥116
भावार्थ : एक बार फिर से पिङ्गला नाड़ी अर्थात् सूर्य स्वर (दायीं नासिका) से पूरक (श्वास लेते हुए) करते हुए कुण्डलिनी को चलाएं । ऐसा करने पर मृत्यु के निकट होने पर भी साधक को मृत्यु का भय नहीं रहता ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ । ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित् सुषुम्नायां समुद्गता ॥117
भावार्थ : साधक को भय से रहित होकर दो मुहूर्त अर्थात् एक घण्टा छत्तीस मिनट तक कुण्डलिनी का संचालन करना चाहिए । इससे वह प्राण शक्ति कुछ ऊपर की ओर उठकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाती है ।
विशेष : एक मुहूर्त दो घड़ी का होता है तो दो मुहूर्त का अर्थ है चार घड़ी । इनमें एक घड़ी चौबीस (24) मिनट की होती है । अतः कुल चार घड़ी हुई और चार घड़ी का कुल समय (4×24= 96 मिनट) एक घण्टा छत्तीस मिनट हुआ ।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् । जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥118
भावार्थ : इसके परिणामा स्वरूप वह कुण्डलिनी शक्ति जो सुषुम्ना नाड़ी के मुख को ढकें रखती है । वह सुषुम्ना नाड़ी के मुहँ को निश्चित रूप से छोड़ देती है । जिससे साधक के प्राण का प्रवाह बिना किसी रुकावट के सुषुम्ना नाड़ी में स्वयं ही प्रवेश कर जाता है ।
शक्ति चालन मुद्रा के लाभ
तस्मात् सञ्चालयेन्नित्यं सुख सुप्ता मरुन्धतीम् । तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥119
भावार्थ : इसलिए योगी साधक को नियमित रूप से उस सोई हुई अरुन्धती अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का संचालन (उसको चलाना) करना चाहिए । केवल उसके संचालन मात्र से ही साधक के सभी रोग दूर हो जाते हैं ।
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् । किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥120

भावार्थ : जिस भी साधक ने इस कुण्डलिनी शक्ति का संचालन करना आ गया । उसे सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । इस विषय में और क्या कहना ? इसमें तो साधक मृत्यु पर भी बड़ी आसानी से जीत प्राप्त कर लेता है ।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशन: । मण्डलाद् दृश्यते सिद्धि: कुण्डल्यभ्यासयोगिन: ॥121

भावार्थ : जो भी योग साधक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, शीघ्रता से पचने वाला हितकारी आहार ग्रहण करता है और कुण्डलिनी को चलाता है उसे एक मण्डल अर्थात् चालीस (40) दिनों में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है ।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषत: । एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभी: कुत: ॥122

भावार्थ : कुण्डलिनी को चलाते समय भस्त्रिका प्राणायाम को विशेष रूप से करना चाहिए । इस प्रकार नियमित रूप से कुण्डलिनी चलाते हुए भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास करने से योगी को मृत्यु के देवता अर्थात् यमराज का भय कैसा ?

ऊपर वर्णित श्लोक में कहा गया है कि जब योगी इस विधि का नियमित रूप से पालन करता है तो उसे मृत्यु का भी भय नहीं रहता ।

बहत्तर हजार (72000) नाड़ियों की शुद्धि

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने । कुत: प्रक्षालनोपाय: कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥123

भावार्थ : कुण्डलिनी शक्ति के अभ्यास के बिना शरीर में स्थित बहत्तर हजार (72000) नाड़ियों के मल अर्थात् अशुद्धि को दूर करने का कोई दूसरा तरीका कहाँ है ?

इसका अर्थ है कि सभी नाड़ियों को शुद्ध करने का एकमात्र उपाय कुण्डलिनी शक्ति ही है अन्य कोई नहीं ।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् । आसनप्राणसंयाम मुद्राभि: सरला भवेत् ॥124

भावार्थ : योगियों द्वारा किए गए आसन, प्राणायाम व मुद्राओं के दृढ़ अभ्यास से ही सुषुम्ना नाड़ी ऊर्ध्वगमन के लिए उपयुक्त अथवा सरल हो जाती है ।

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना । रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥125

भावार्थ : जो साधक पूरी सजगता अथवा जागरूकता के साथ योग का अभ्यास करते हैं । वह समाधि के द्वारा अपने मन को एक जगह पर स्थिर करके शाम्भवी मुद्रा या कल्याण करने वाली सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं ।

राजयोग की उपयोगिता

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा । राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥126

भावार्थ : राजयोग के बिना सम्पूर्ण सुखों से भरी इस पृथ्वी का कोई प्रयोजन नहीं, न ही बिना राजयोग के रात्रि का कोई औचित्य है और बिना राजयोग के अनेक प्रकार की मुद्राएं भी शोभा नहीं देती हैं ।

विशेष : इस श्लोक में राजयोग की उपयोगिता को दर्शाया गया है कि किस प्रकार राजयोग के बिना बाकी के सभी साधनों का कोई महत्त्व नहीं है ।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् । इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥127

भावार्थ : योगी साधक को पूरे मनोयोग से प्राणायाम से सम्बंधित सभी विधियों का अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए । इसके अतिरिक्त उसे अन्य किसी प्रकार के अनावश्यक विचार पर अपना ध्यान नहीं लगाना चाहिए ।

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना । एकैका तासु यमिनां महासिद्धि प्रदायिनी ॥128

भावार्थ : इस प्रकार आदिनाथ शिव यहाँ पर दस मुद्राओं का उल्लेख किया है । इनमें से प्रत्येक मुद्रा योगी साधक को बड़ी बड़ी सिद्धियाँ प्रदान करने का सामर्थ्य रखती हैं ।

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् । स एव श्रीगुरु: स्वामी साक्षादीश्वर एव स: ॥129

भावार्थ : जो भी योगी नाथ परम्परा में उपदेशित इन मुद्राओं का ज्ञान देता है । वही आदरणीय गुरु, स्वामी एवं वही साक्षात ईश्वर के समान होता है ।

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहित: । अणिमादिगुणैश्वर्यं लभते कालवञ्चनम् ॥130

भावार्थ : जो योगी साधक गुरु द्वारा उपदेशित इन मुद्राओं का अभ्यास पूरी एकाग्रता से करता है । वही अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है ।

॥इति श्री सहजानन्द सन्तानचिंतामणि स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेश: ॥

भावार्थ : इस प्रकार यह श्री सहजानन्द परम्परा के महान अनुयायी योगी स्वात्माराम द्वारा रचित हठप्रदीपिका ग्रन्थ में मुद्राओं की विधि

बताने वाला तीसरा उपदेश पूर्ण हुआ ।

५ अध्याय ४

भगवान शिव को नमस्कार

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने । निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायण: ॥1

भावार्थ : जिस परम गुरु के प्रति निरन्तर समर्पित भाव से भक्ति करने मात्र से साधक को परमपद अर्थात् समाधि की प्राप्ति हो जाती है । उन नाद बिन्दु व कला स्वरूप गुरु भगवान शिव को नमन अर्थात् प्रणाम है ।

समाधि वर्णन

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् । मृत्युध्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ॥2

भावार्थ : अब इसके बाद मैं मृत्यु का नाश करने वाली, सुख प्रदान करवाने वाली व ब्रह्मानन्द का अनुभव करवाने वाली समाधि की उत्तम विधि का उपदेश करूँगा ।

राजयोग: समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी । अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥3

अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् । जीवनमुक्तिकश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचका: ॥4

भावार्थ : राजयोग, समाधि, उन्मनी अवस्था, मनोन्मनी अवस्था, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्बन, निरञ्जन, जीवन मुक्ति, सहजा अवस्था तथा तुर्या अवस्था इन सभी के सभी शब्दों का एक ही अर्थ होता हैं । दूसरे अर्थ में हम इनको एक दूसरे के पर्यायवाची भी कह सकते हैं ।

विशेष : जहाँ पर भी उपर्युक्त शब्दों में से किसी शब्द का प्रयोग किया जाएगा । उसका अर्थ समाधि ही माना जाएगा । इन सभी शब्दों का प्रयोग समाधि के लिए ही किया जाता है ।

योग अथवा समाधि की परिभाषा

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगत: । तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥5

भावार्थ : जिस प्रकार पानी में नमक डालने से वह नमक पानी के साथ घुलकर पानी के समान ही हो जाता है । ठीक उसी प्रकार आत्मा और मन की एकरूपता अर्थात् आत्मा और मन के आपस में मिलने को समाधि की अवस्था कहते हैं ।

विशेष : हठयोग के अनुसार इस श्लोक को योग अथवा समाधि की परिभाषा के रूप में प्रयोग किया जाता है । जिस प्रकार योगश्चितवृत्ति निरोध: को योगदर्शन के अनुसार व योग: कर्मसु कौशलम् को गीता के अनुसार योग की परिभाषा के रूप में प्रयोग किया जाता है । ठीक उसी प्रकार हठयोग के अनुसार इस श्लोक को योग की परिभाषा के रूप में प्रयोग किया जाता है ।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते । तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥6 ॥

भावार्थ : प्राणों की गति मन्द होने से मन भी गतिविहीन अर्थात् स्थिर हो जाता है । इन दोनों (प्राण व मन) की एकरूपता (एक होने) को ही समाधि कहते हैं ।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनो: । प्रनष्टसर्वसङ्कल्प: समाधि: सोऽभिधीयते ॥7 ॥

भावार्थ : जीवात्मा और परमात्मा की एकरूपता (एक होने) होने से साधक के सभी संकल्प अर्थात् सभी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं । इस अवस्था को भी समाधि कहते हैं ।

गुरु का महत्त्व

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वत: । ज्ञानं मुक्ति: स्थिति: सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥8

भावार्थ : राजयोग की उपयोगिता को कोई विरला ही जान पाता होगा । इसका ज्ञान, मुक्ति, अपने स्वरूप में स्थित होना व सिद्धि की प्राप्ति आदि का लाभ गुरु के उपदेश से ही प्राप्त होता है ।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् । दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो: करुणां विना ॥9

भावार्थ : उत्तम गुरु की विशेष कृपा के बिना विषयों अर्थात् आसक्ति का त्याग, यथार्थ ज्ञान का मिलना व सहजावस्था अर्थात् समाधि की अवस्था का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है ।

विविधैरासनै: कुम्भैर्विचित्रै: करणैरपि । प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राण: शून्ये प्रलीयते ॥10

भावार्थ : अनेक प्रकार के आसनों, कुम्भकों (प्राणायाम) व अनेक प्रकार की योग साधनाओं का अभ्यास करने से साधक कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है । जिससे प्राण सुषुम्ना नाड़ी में लीन (मिल जाना) हो जाता है ।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनि: शेषकर्मण: । योगिन: सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥11

भावार्थ : कुण्डलिनी शक्ति के उत्पन्न होने अर्थात् जागृत होने व सभी कर्मों का त्याग (सभी सकाम कर्म अर्थात् जो कर्म बन्धन का कारण बनते हैं) करने से योगी की समाधि अपने आप ही लग जाती है । उसके लिए उसे किसी अन्य प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती ।

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे । तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥12

भावार्थ : साधक का प्राण जब सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर लेता है तो उसका मन भी शून्यभाव (मन का विचारों से रहित होना) को प्राप्त हो जाता है । तब साधक सभी प्रकार के क्रियाकलापों से पूरी तरह से मुक्त हो जाता है ।

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जित: । पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥13

भावार्थ : जिस अमर योगी ने इस सारे जगत को अपने वश में रखने वाली मृत्यु को भी जीत लिया है । ऐसे श्रेष्ठ योगी को नमस्कार ।

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे । तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥14

भावार्थ : साधक का चित्त समभाव (समता) को प्राप्त होने पर उसका प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर लेता है । इस प्रकार प्राणवायु के सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करने के बाद ही साधक की अमरोली, वज्रोली व सहजोली क्रियाएँ सिद्ध होती है ।

मोक्ष प्राप्ति

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत् प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् । प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्य: ॥15

भावार्थ : जब तक साधक के प्राण का निरन्तर प्रवाह होता रहता है तब तक उसका मन भी शान्त नहीं होता और मन के शान्त न होने से उसे यथार्थ ज्ञान (वास्तविक ज्ञान) की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जो साधक अपने प्राणों व मन का पूरी तरह से निरोध कर लेता है । उसे ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । अन्य किसी प्रकार से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है ।

ज्ञात्वा सुषुम्ना सम्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् । स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत् ॥16

भावार्थ : साधक को सदा सुन्दर स्थान पर बैठकर सुषुम्ना नाड़ी का अच्छी प्रकार से भेदन करके प्राणवायु को सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर प्रवेश करवाकर ब्रह्मरन्ध्र में उसका निरोध करना चाहिए ।

सूर्याचन्द्रमसौ धत्त: कालं रात्रिन्दिवात्मकम् । भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥17

भावार्थ : दिन और रात को सूर्य और चन्द्रमा धारण (सूर्य और चन्द्रमा से ही दिन व रात का आभास होता है) करते हैं । सुषुम्ना नाड़ी उस काल (दिन व रात के समय) को भोगने वाली है । इसे अत्यन्त गुप्त रहस्य कहा गया है ।

सभी बहत्तर हजार (72000) नाड़ियाँ में सुषुम्ना की महत्ता

द्वासप्तति सहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे । सुषुम्ना शाम्भवी शक्ति: शेषास्त्वेव निरर्थका: ॥18

भावार्थ : इस मानव शरीर में कुल बहत्तर हजार (72000) नाड़ियाँ है । इनमें से सुषुम्ना नाड़ी ही सबसे प्रमुख है जिसे शाम्भवी शक्ति भी कहते हैं । बाकी की सभी नाड़ियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है । वह एक प्रकार से निरर्थक अर्थात् महत्त्वहीन हैं ।

वायु: परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् । बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधत: ॥19

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्धयत्येव मनोन्मनी । अन्यथात्वितराभ्यासा: प्रयासायैव योगिनाम् ॥20

भावार्थ : चूँकि अच्छे अभ्यास से भली प्रकार से वश में किया हुआ प्राण अग्नि तत्त्व के साथ मिलकर कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके बिना किसी प्रकार की बाधा के सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाता है । इस प्रकार जब साधक का प्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है तभी मनोन्मनी अवस्था अर्थात् समाधि की सिद्धि होती है । इसके अतिरिक्त साधक के अन्य सभी प्रकार के अभ्यास केवल प्रयास मात्र होते हैं अर्थात् उनसे किसी भी प्रकार की सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते । मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥21

भावार्थ : जिस भी साधक ने पवन अर्थात् अपने प्राणवायु को वश में कर लिया है । वही साधक मन को भी अपने वश में कर सकता है । इस प्रकार जो मन को वश में कर लेता है । वह प्राण को भी वश में कर लेता है ।

विशेष : ऊपर वर्णित श्लोक व दूसरे अध्याय के दूसरे श्लोक में भी इस बात का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है कि प्राण व मन एक दूसरे के पूरक हैं । जैसे ही प्राण को वश में किया जाता है वैसे ही यह मन अपने आप वश में हो जाता है । इसके लिए अलग से कोई प्रयास नहीं करना पड़ता ।

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरण: । तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यत: ॥22

भावार्थ : चित्त के चंचल या गतिमान होने के दो प्रमुख कारण होते हैं । एक वासना और दूसरा प्राण । इन दोनों कारणों में से यदि एक कारण भी नष्ट हो जाता है तो दूसरा भी अपने आप ही नष्ट हो जाता है ।
विशेष : ऊपर श्लोक में चित्त की चंचलता के दो कारणों में एक कारण प्राण को बताया गया है । यहाँ पर इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राण के नष्ट हो जाने से ही चित्त की चंचलता नष्ट होगी । बल्कि यहाँ पर इसका अभिप्राय यह है कि जो प्राण की अनियंत्रित अवस्था होती है । वह चित्त की चंचलता का कारण है न कि प्राण । यदि ऐसा होता तो प्राण के नष्ट होने पर तो जीवन ही समाप्त हो जाएगा । अतः यहाँ पर प्राण का अर्थ प्राण की अनियंत्रित गति समझना चाहिए । यही सूत्रकार का कथन है ।
मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते । पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥23
भावार्थ : जब साधक का मन सभी विषयों का त्याग कर देता है तब वह लीन अर्थात् स्थिर हो जाता है । तब मन के लीन अथवा स्थिर हो जाने से वह प्राण भी स्थिर हो जाता है ।
दुग्धाम्बुवत् सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि । यतो मरुत्तत्र मन: प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्ति: ॥24
भावार्थ : जिस प्रकार दूध और पानी दोनों के मिश्रण अर्थात् दोनों को एक साथ मिला देने से वह दोनों एक ही रूप में अपना कार्य करते हैं । ठीक उसी प्रकार यह मन व प्राण भी एक साथ मिलकर कार्य करते हैं । जैसे ही साधक का प्राण क्रियाशील होता है वैसे ही उसका मन भी क्रियाशील हो जाता है । ये दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं । जिस प्रकार की दशा हमारे प्राण की होती है । ठीक वैसी ही दशा हमारे मन की हो जाती है । ठीक इसी तरह जो अवस्था हमारे मन की होती है । वही अवस्था हमारे प्राण की हो जाती है ।
विशेष : इस श्लोक में दूध व पानी के मिश्रण का उदाहरण इसी लिए दिया गया है ताकि सभी विद्यार्थी आसानी से इनके (प्राण व मन) क्रियाकलापों को समझ सकें । जिस प्रकार दूध में पानी या पानी में दूध मिला दिया जाता है तो वह दोनों एक ही रूप में अपना काम करते हैं अलग अलग नहीं । इसी प्रकार प्राण व मन एक दूसरे के साथ मिलकर कार्य करते हैं अलग अलग नहीं ।
तत्रैकनाशादपरस्य नाश: एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्ति: । अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्ति: प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धि: ॥25
भावार्थ : इन दोनों में से (मन व प्राण) यदि एक नष्ट (उनकी गतिशीलता) हो जाता है तो दूसरा भी स्वयं ही नष्ट हो जाता है अर्थात् दूसरे की गति का नाश भी अपने आप ही हो जाता है । ठीक इसी प्रकार एक के गतिशील होने पर दूसरा भी गतिशील हो जाता है । जब यह दोनों (मन व प्राण) निरन्तर गतिशील रहते हैं तो हमारी इन्द्रियाँ भी अपने – अपने विषयों में प्रवृत्त रहती हैं । लेकिन जैसे ही यह दोनों गतिविहीन हो जाते हैं अर्थात् जब इनमें स्थिरता आ जाती है । तब साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है ।
रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः । रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्धयति भूतले ॥26
भावार्थ : मन व पारा (पारा एक धातु है) दोनों की प्रकृति (स्वभाव) चंचल होते हैं अर्थात् यह दोनों मूल रूप से चंचल होते हैं । यदि पारा धातु को बांध लिया जाए और मन को एक जगह पर स्थिर कर दिया जाए तो उस साधक के लिए (जिसने मन को स्थिर कर लिया है) इस पूरी पृथ्वी पर ऐसा क्या है जिसे वह प्राप्त नहीं कर सकता ? अर्थात् इस पूरी पृथ्वी पर उसके लिए सबकुछ सम्भव हो जाता है ।
मुर्च्छितो हरते व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम् । बद्ध: खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥27
भावार्थ : हे पार्वती ! पारा धातु को शोधित करने पर (उसकी भस्म बना देने से) और प्राण की गति को मन्द करने से यह दोनों ही रोगों को दूर करने का काम करते हैं । पारा धातु स्वयं मरके दूसरों को जीवन प्रदान करता है (जब पारा धातु को तीव्र अग्नि में भस्म किया जाता है तब वह अपने वास्तविक स्वरूप को खो देता है अथवा उसकी स्वयं की सत्ता समाप्त हो जाती है) । पारा बांधे जाने से और प्राण का निरोध होने पर वह ऊर्ध्वगामी होकर साधक को आकाश गमन की सिद्धि प्रदान करते हैं ।
मन: स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दु: स्थिरो भवेत् । बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥28
भावार्थ : मन के स्थिर हो जाने से हमारा प्राण भी स्थिर हो जाता है । जिससे वीर्य भी शरीर में स्थिर हो जाता है और वीर्य के शरीर में स्थिर होने से सदा शक्ति और स्थिरता बनी रहती है ।
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुत: । मारुतस्य लयो नाथ: स लयो नादमाश्रित: ॥29
भावार्थ : हमारी सभी इन्द्रियों को नियंत्रित करने वाला अथवा उनका स्वामी मन है और उस मन को नियंत्रित करने वाला अथवा उसका स्वामी प्राण है । उस प्राण को नियंत्रित करने वाला लय होता है और वह लय नाद पर आश्रित होता है अर्थात् नाद लय का स्वामी होता है ।
सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे । मन: प्राणलये कश्चिदानन्द: सम्प्रवर्तते ॥30

भावार्थ : कुछ आचार्यों के मतानुसार इस लय को ही मोक्ष नाम से जाना जाता है अर्थात् लय को ही मोक्ष कहा गया है । वहीं कुछ आचार्यों के अनुसार ऐसा नहीं माना जाता । लेकिन मन और प्राण दोनों के लयबद्ध होने से साधक को एक आनन्द की अनुभूति होती है ।

प्रनष्टश्वासनि:श्वास: प्रध्वस्तविषयग्रह: । निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥31

भावार्थ : जिस साधक के प्राणों की गति समाप्त हो गई है अर्थात् जिसने प्राणायाम द्वारा अपने श्वास प्रश्वास को पूरी तरह से नियंत्रित कर लिया है । जिस साधक की इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों का पूर्ण रूप से त्याग हो चुका है अर्थात् जिस की इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से उसके नियंत्रण में हो चुकी हैं । जिसकी सभी इच्छाएँ समाप्त हो चुकी हैं । जो सभी विकारों से रहित हो गया है । ऐसे योगियों को लय की प्राप्ति होती है ।

उच्छि न्नसर्व सङ्कल्पो नि:शेषाशेषचेष्टित: । स्वावगम्यो लय: कोऽपि जायते वागगोचर: ॥32

भावार्थ : जिस साधक के सभी संकल्प समाप्त हो गए हैं और कोई भी इच्छा शेष न बची हो अर्थात् जिसकी सभी कामनाएं पूर्ण हो चुकी हैं । ऐसी लय की अवस्था को स्वयं के द्वारा ही अनुभूत (महसूस) किया जा सकता है । वाणी द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

यत्र दृष्टिर्लयस्त्र भूतेन्द्रियसनातनी । सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥33

भावार्थ : जहाँ पर साधक की दृष्टि एकाग्र होती है । वहीं पर लय का स्थान होता है ।

वहाँ पर सभी पंच महाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी) व इन्द्रियों की परम्परागत शक्ति होती है । उस शक्ति में जीवात्मा के सभी उद्देश्य विलीन हो जाते हैं ।

लयो लय इति प्राहु: कीदृशं लयलक्षणम् । अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृति: ॥34

भावार्थ : कुछ योग साधक मात्र लय लय कहते रहते हैं । लेकिन लय होता क्या है ? यह उनको नहीं पता होता । जहाँ पर सभी वासनाएँ पूरी तरह से विलीन हो जाती हैं अर्थात् जिस अवस्था में कभी भी वासना प्रबल नहीं होती । जहाँ किसी विषय की कोई भी स्मृति शेष नहीं बचती है । वह स्थिति लय की होती है ।

शाम्भवी मुद्रा वर्णन

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव । एकैक शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥35

भावार्थ : वेद, शास्त्र और पुराण आदि ग्रन्थ सामान्य व आसानी से प्राप्त होने वाले हैं । लेकिन शाम्भवी मुद्रा ही एकमात्र कुलवधू (अच्छे परिवार की बहू) के समान गुप्त होती है ।

विशेष : इस श्लोक में सामान्य गणिका शब्द का प्रयोग किया गया है । जिसमें गणिका का सामान्य अर्थ वेश्या होता है । लेकिन इस ग्रन्थ में इसका अर्थ वेश्या नहीं है । यहाँ गणिका का अर्थ कहीं पर भी उपलब्ध होने वाला है । वेश्या को भी आसानी से कहीं पर भी उपलब्ध होने वाली माना जाता है । इसी कारण कुछ भाष्यकारों ने तो अपने अनुवाद में इसे वेश्या ही सम्बोधित किया है और कुछों ने इसका अनुवाद न करके गणिका शब्द को ही अपने अनुवाद में प्रयोग किया है । यहाँ पर स्वामी स्वात्माराम वेद, शास्त्रों व पुराणों को वेश्या की संज्ञा नहीं दे सकते । क्योंकि उनके पूरे ग्रन्थ में कहीं पर भी इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया है । अत: यहाँ पर गणिका शब्द का अर्थ है जो कहीं पर भी उपलब्ध हो जाए । इसका एक तर्क यह भी बनता है कि 14 वीं शताब्दी में वेद, शास्त्र व पुराणों का सभी जगह पर उपलब्ध होना एक सामान्य बात थी । आज वर्तमान समय में यह प्रमाण सही नहीं बैठता । लेकिन उस समय पर यह प्रमाण बिलकुल सही बैठता है । कुछ बातें कल प्रमाणिक थी जो आज प्रमाणिक नहीं हैं । कुछ बातें आज के समय में प्रमाणिक है लेकिन हो सकता है कि वो भविष्य में प्रमाणिक न रहें । इसलिए कुछ व्यक्ति काल भेद का अन्तर नहीं कर पाते हैं । जिसके कारण इस प्रकार की गलत धारणाएँ फैलती हैं ।

शाम्भवी विधि

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता । एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥36

भावार्थ : शाम्भवी मुद्रा में साधक के दोनों नेत्र (आँखें) खुली रहती हैं । लेकिन वह स्थिर होती हैं अर्थात् साधक आँखें खोलकर भी बाहर की ओर नहीं देखता । उसका लक्ष्य अन्दर की ओर ही होता है । वेद और शास्त्रों में यह विद्या गुप्त रूप से बताई गई है ।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते दृष्टया निश्चलतारया बहिरध: पश्यन्नपश्यन्नपि । मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरो: शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शाम्भवम् ॥37

भावार्थ : जब योगी साधक अन्तर्लक्ष्य अर्थात् अन्दर की ओर लक्ष्य का निर्धारण करके अपने चित्त व प्राण की गति को नियंत्रित कर लेता है । तब वह बाहर व नीचे की ओर देखते हुए भी बाहर व नीचे नहीं देखता है । यह अवस्था शाम्भवी मुद्रा की होती है जो केवल गुरु की कृपा से ही मिलती है । इस अवस्था में योगी का चित्त शून्य व अशून्य दोनों ही स्थितियों से भिन्न उस परमात्मा में स्थित होता है ।

श्री शाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्था धामभेदत: । भवेच्चित्तलयानन्द: शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥38

भावार्थ : श्री शाम्भवी मुद्रा व खेचरी मुद्रा के स्थान व अवस्था दोनों में ही अन्तर होता है । लेकिन शून्य अवस्था में चित्त का लय होने पर दोनों में ही चित्त में विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है ।

तारे ज्योतिषी संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ । पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारक: क्षणात् ॥39

भावार्थ : भ्रुमध्य में स्थित आज्ञाचक्र में मन को स्थिर करके अपनी दोनों भौहों (दोनों आँखों के बीच का स्थान) को थोड़ा ऊपर की ओर उठाएं । इसके बाद साधक पहले से बताई गई विधि के अनुसार अपने मन व प्राण को स्थिर करके शीघ्रता से समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलै: । केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥40

भावार्थ : कुछ योगी साधक तो आगम (शिव द्वारा उपदेशित ग्रन्थ) के जाल में व कुछ साधक वैदिक वाङ्मय के आपसी चक्रों में पड़ जाते हैं । वहीं कुछ आपसी तर्क वितर्कों में ही उलझकर मार्ग से भटक जाते हैं । वे उस मुक्ति प्रदान करने वाली उन्मनीकला (समाधि) को जान ही नहीं पाते हैं ।

अर्धोन्मीलितलोचन: स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण: चन्द्रर्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्दभावेन य: । ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परम् तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥41

भावार्थ : जो योग साधक अपने दोनों नेत्रों को आधा खोलकर, मन को एक जगह पर स्थिर करके, अपनी दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित करके, पूर्ण रूप से स्थिर होकर व जिसने इडा व पिङ्गला नाड़ियों में चलते हुए प्राण को नियंत्रित कर लिया हो । वह साधक ज्योति स्वरूप से भी ज्यादा दीप्तिमान जिसे परमात्मा कहा जाता है । उसे देखता हुआ उसी परमपद को प्राप्त कर लेता है ।

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् । सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधत: ॥42

भावार्थ : साधक को लिङ्ग (परमात्मा) की उपासना या आराधना न ही तो दिन में (पिङ्गला नाड़ी में) करना चाहिए और न ही रात्रि में (इडा नाड़ी में) बल्कि उसे दिन व रात (इडा व पिङ्गला) दोनों का ही निरोध होने पर (सुषुम्ना नाड़ी के चलने पर ही) लिङ्ग (परमात्मा) की उपासना अथवा आराधना करनी चाहिए ।

विशेष : इस श्लोक में पिङ्गला व इडा को ही क्रमशः दिन व रात कहकर सम्बोधित किया गया है । पिङ्गला का अर्थ है सूर्य नाड़ी चूँकि सूर्य दिन में ही निकलता है और सूर्य ही पिङ्गला नाड़ी का प्रतिनिधित्व करता है । इसी प्रकार इडा का अर्थ है चन्द्र नाड़ी चूँकि चन्द्रमा रात में ही निकलता है और चन्द्रमा ही इडा नाड़ी का प्रतिनिधित्व करता है । इसलिए यहाँ पर पिङ्गला व इडा को क्रमशः दिन व रात कहा गया है । तभी कहा गया है कि दोनों का निरोध होने पर ही अर्थात् इडा व पिङ्गला का निरोध होने पर ही लिङ्ग की उपासना करनी चाहिए । इसका तात्पर्य यह हुआ कि सुषुम्ना नाड़ी के क्रियाशील होने पर ही उपासना करनी चाहिए । उसके अतिरिक्त उपासना करने से वह सिद्ध नहीं होती है ।

खेचरी मुद्रा वर्णन

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुत: । तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशय: ॥43

भावार्थ : चन्द्र (बायीं नासिका) व सूर्य (दायीं नासिका) में चलने वाली प्राणवायु जब बीच में अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में चलने लगती है । तब वह खेचरी मुद्रा की अवस्था होती है । इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् । तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥44

भावार्थ : इडा व पिङ्गला नाड़ियों के बीच में स्थित सुषुम्ना नाड़ी में जब प्राणवायु का ग्रहण होता है तब वहाँ पर खेचरी मुद्रा स्थित होती है । यह बात पूर्ण रूप से सत्य है ।

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बान्तरे पुनः । संस्थिता व्योमचक्रे सा या मुद्रा नाम खेचरी ॥45

भावार्थ : एक बार फिर जो इडा व पिङ्गला नाड़ियों के बीच में अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में बिना किसी की सहायता के जो व्योमचक्र (आकाश में) स्थित है । वह खेचरी मुद्रा है ।

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात् सा शिववल्लभा । पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥46

भावार्थ : सोममण्डल अर्थात् चन्द्र नाड़ी से बहने वाली धारा साक्षात भगवान शिव की प्रिय है । उस सोमधारा को पीछे के मार्ग से अर्थात् मेरुदण्ड के माध्यम से सुषुम्ना नाड़ी में भर देना चाहिए ।

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् । अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते ॥47

भावार्थ : इस प्रकार उस सोमधारा को सुषुम्ना नाड़ी में भर देने पर निश्चित रूप से खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है । इस प्रकार इस खेचरी मुद्रा के अभ्यास से उन्मनी अर्थात् समाधि की सिद्धि होती है ।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते । ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥48

भावार्थ : दोनों भौहों के बीच में जो स्थान होता है उसे भगवान शिव का स्थान कहा गया है । जिसे तन्त्र की भाषा में आज्ञा चक्र कहते हैं । साधक को अपना मन वहाँ पर विलीन अर्थात् स्थिर कर देना चाहिए । वहाँ पर काल का बोध (मृत्यु) अथवा ज्ञान नहीं होता । जिससे साधक मृत्यु को जीत कर समाधि की प्राप्ति कर लेता है ।

अभ्यसेत् खेचरीं तावद्यात् स्याद्योगनिद्रित: । सम्प्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥49

भावार्थ : साधक को इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास तब तक करना चाहिए जब तक कि वह योगनिद्रा (समाधि) को प्राप्त नहीं कर लेता । जैसे ही साधक को योगनिद्रा की प्राप्ति (समाधि) हो जाती है । वैसे ही उसे काल (मृत्यु) का कोई डर नहीं रहता ।

निरालम्बं मन: कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् । स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥50

भावार्थ : जब साधक अपने मन को सभी प्रकार के विचारों से मुक्त कर देता है और साथ ही मन के सभी प्रकार के संकल्प विकल्पों को रोक देता है । तब साधक बाहर और भीतर से ठीक उसी प्रकार से स्थिर हो जाता है । जैसे कि घड़ा एक जगह पर स्थिर रहता है ।

बाह्यावायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशय: । स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥51

भावार्थ : जिस प्रकार बाहर से लिया जाने वाला प्राणवायु स्थिर हो जाता है । उसी प्रकार मध्ये अर्थात् शरीर के अन्दर स्थित प्राणवायु भी स्थिर हो जाता है । तब अपने स्थान पर स्थित प्राणवायु मन के साथ मिलकर स्थिर हो जाती है । इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् । अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥52

भावार्थ : ऊपर वर्णित विधि के अनुसार प्राणवायु का दिन – रात अभ्यास करने से साधक प्राणवायु को जीत लेता है । जिससे प्राण गतिविहीन अथवा स्थिर हो जाता है । इस अवस्था में प्राण के साथ मन भी लीन (स्थिर) हो जाता है ।

अमृतै: प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् । सिद्धयत्येव महाकायो महाबलपराक्रम् ॥53

भावार्थ : ऊपर वर्णित साधना साधक को पैर से लेकर सिर तक सोमरस रूपी अमृत से परिपूर्ण (भर) कर देती है । जिससे साधक का शरीर विशाल (बड़ा) व अत्यन्त बल व पराक्रम से युक्त हो जाता है ।

शक्तिमध्ये मन: कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् । मनसा मन आलोक्य धारयेत् परमं पदम् ॥54

भावार्थ : पहले साधक अपने मन को कुण्डलिनी शक्ति में स्थिर करे (लगाए) और फिर कुण्डलिनी शक्ति को मन में स्थिर करे । इस प्रकार योगी अपने मन को अपने ही मन में स्थिर करता हुआ उस परमपद अर्थात् सर्वोच्य पद (समाधि) को प्राप्त कर लेता है ।

खमध्ये कुरुचात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु । सर्वं च खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥55

भावार्थ : मैं आकाश में और आकाश मुझमें स्थित है । इस प्रकार के भाव का ही विचार साधक को करना चाहिए । साथ ही सभी को ब्रह्म का अंश मानकर केवल उसी का चिन्तन अथवा उपासना करनी चाहिए । अन्य किसी की नहीं ।

अन्त: शून्यो: बहि: शून्य: कुम्भ इवाम्बरे । अतः पूर्णो बहि: पूर्ण: पूर्ण: कुम्भ इवार्णवे ॥56

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम् । सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥57

भावार्थ : जिस प्रकार खाली घड़े के बाहर और अन्दर का हिस्सा खाली रहता है अर्थात् वह शून्य स्थान कहलाता है । जिसे हम आकाश की संज्ञा देते हैं । ठीक इसी प्रकार पानी में डूबा हुआ घड़ा जिस प्रकार अन्दर व बाहर दोनों प्रकार से ही पानी से युक्त होता है अर्थात् उस घड़े के अन्दर भी जल होता है और उसके बाहर भी जल होता है । अतः जिस तरह घड़ा अन्दर व बाहर दोनों ही प्रकार से पूर्ण होता है ठीक उसी प्रकार योगी को भी साधना काल में सभी बाह्य (बाहरी) व आन्तरिक (अन्दर) विचारों का पूरी तरह से त्याग कर देना चाहिए । इस प्रकार योगी सभी बाहरी व भीतरी विचारों से पूरी तरह से शून्य होकर साधना करे ।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत् समग्रम् सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलास: । सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्पमाश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥58

भावार्थ : हे राम! यह सम्पूर्ण जगत (संसार) हमारे मन की कल्पना मात्र ही है और इस जगत (संसार) की जितनी भी काल्पनिक रचनाएं हैं वह भी केवल हमारे मन की ही उपज (देन) है । अतः साधक को अपने मन द्वारा उपजी इस कल्पना के आश्रय को छोड़कर शान्ति को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए ।

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा । तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥59

भावार्थ : जिस तरह अग्नि में डालने से कपूर अपना स्वरूप खोकर अग्नि के अन्दर विलीन (लीन) हो जाता है । तथा पानी में मिलाने पर जिस प्रकार नमक अपने स्वरूप को खोकर पानी में विलीन हो जाता है । ठीक इसी प्रकार मन को ब्रह्म तत्त्व में लगाने से वह मन भी अपना स्वरूप खोकर ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है ।

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्य: पन्था द्वितीयक: ॥60

भावार्थ : जो भी पदार्थ जाने जाते हैं वह सभी ज्ञान के विषय हैं और मन भी ज्ञान का ही विषय है । इस तरह ज्ञान व ज्ञान को जानने वाले अर्थात् मन दोनों को ही विलीन करने से ही उस लय का मार्ग प्रशस्त (मिलता) होता है । इसके अलावा कोई अन्य मार्ग नहीं है ।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् सचराचरम् । मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥61

भावार्थ : यह सभी चर व अचर दिखाई देने वाला सम्पूर्ण जगत हमारे मन का ही विषय है अर्थात् यह सब मन के द्वारा ही सम्भव हो पाता है । जैसे ही हमारा मन उन्मनी भाव (समाधि) को प्राप्त कर लेता है । वैसे ही द्वैत भाव (दो प्रकार का विचार) भी समाप्त हो जाता है ।

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् । मनसो विलये जाते कैवलयमवशिष्यते ॥62

भावार्थ : जो भी ज्ञेय अर्थात् ज्ञान या जानकारी करवाने वाले पदार्थों का त्याग करने से मन भी ब्रह्म में लीन हो जाता है । इस तरह मन के ब्रह्म में लीन होने से साधक को कैवल्य (समाधि) की प्राप्ति हो जाती है ।

एवं नानाविधोपाया: सम्यक् स्वानुभवान्विता: । समाधि मार्गा: कथिता: पूर्वाचार्यैर्महात्मभि: ॥63

भावार्थ : इस प्रकार पहले उत्पन्न हुये महान योग आचार्यों ने अपनी योग साधना के समय के अनुभवों से समाधि की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की योग विधियों का उपदेश दिया है ।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने । मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥64

भावार्थ : हे सुषुम्ना, कुण्डलिनी, चन्द्रमा से उत्पन्न अमृत, मनोन्मनी अवस्था (समाधि) व चित्त स्वरूप महाशक्ति आप सबको प्रणाम है ।

विशेष : ऊपर वर्णित सभी शब्द समाधि को ही परिभाषित करते हैं । अतः सूत्रकार इनको विशेष महत्त्व देते हुए इन सबको प्रणाम करता है ।

नादानुसन्धान वर्णन

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम् । प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥65

भावार्थ : जिन निम्न कोटि के योग साधकों को उस परम तत्त्व का ज्ञान नहीं हो पाता है । उन सभी के लिए गुरु गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत (मानी गई) नादयोग उपासना की विधि का वर्णन किया गया है ।

श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकारा: कथिता जयन्ति । नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥66

भावार्थ : श्री आदिनाथ शिव (भगवान शिव) के द्वारा नादयोग साधना के सवा करोड़ प्रकार बताए हैं अर्थात् भगवान शिव ने नादयोग साधना की सवा करोड़ विधियों का वर्णन किया है । उनमें से मैं नादयोग को सबसे महत्त्वपूर्ण मानता हूँ ।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय शाम्भवीम् । शृणुयाद्देक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधी: ॥67

भावार्थ : इसके लिए सबसे पहले साधक मुक्तासन की स्थिति में बैठकर शाम्भवी मुद्रा को लगाए । इसके बाद पूरी तरह से एकाग्रचित्त होकर अपने दायें कान से शरीर के अन्दर से आने वाली आवाज को सुनने की कोशिश करे ।

श्रवणपुटनयनयुगल घ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् । शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममल: श्रूयते नाद: ॥68

भावार्थ : जब साधक अपने दोनों कान, दोनों आँख, नासिका के दोनों छिद्रों और मुहँ को बन्द कर लेता है । तब उसे पूरी तरह से शुद्ध सुषुम्ना मार्ग से पूरी तरह से स्पष्ट व पवित्र नाद सुनाई पड़ता है ।

नादयोग की चार अवस्थाएँ

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च । निष्पत्ति: सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥69

भावार्थ : सभी प्रकार की योग साधना पद्धतियों में मुख्य रूप से चार प्रकार की अवस्थाएँ पाई जाती हैं। जिन्हें क्रमशः आरम्भ अवस्था, घट अवस्था, परिचय अवस्था व निष्पत्ति अवस्था कहा जाता है।

विशेष : इस श्लोक में नादयोग की सभी अवस्थाओं को क्रमानुसार दर्शाया गया है। परीक्षा की दृष्टि से भी यह श्लोक अति महत्त्वपूर्ण है। बहुत बार नाद की पहली से लेकर अन्तिम अवस्था तक इनके सही क्रम को पूछा जाता है। अतः सभी विद्यार्थी इनके इस क्रम को याद करलें।

आरम्भ अवस्था के लक्षण

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् भेदादानन्दः शून्यसम्भवः। विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥70

दिव्यदेहसश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान्। सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भे योगवान् भवेत् ॥71

भावार्थ : नादयोग की पहली अवस्था में साधक की ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हो जाता है। जिससे साधक विचार शून्य अर्थात् विचारों से रहित हो जाता है। विचार शून्यता के परिणाम स्वरूप उसे दिव्य आनन्द की अनुभूति (अहसास) होती है। शरीर में असाधारण प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। साधक का शरीर दिव्य गन्ध व दिव्य तेज से युक्त हो जाता है। वह सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है साथ ही उसका चित्त प्रसन्न होकर शून्य भाव को प्राप्त हो जाता है।

घटावस्था के लक्षण

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः। दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्ततथा ॥72

विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात् परमानन्दसूचकः। अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तदा भवेत् ॥73

भावार्थ : दूसरी अवस्था अर्थात् नाद की घटवस्था में प्राणवायु शरीर को घड़ा बनाकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाती है। जिससे साधक का आसन मजबूत हो जाता है और योगी के अन्दर देवताओं के समान ज्ञान हो जाता है। जिसके बाद उस साधक की विष्णु ग्रन्थि का भेदन (खुल जाना) हो जाता है। तब साधक शून्यभाव होकर परम आनन्द को देने वाले विमर्द और भेरी (वाद्ययंत्र) नामक शब्दों को सुनता है

परिचय अवस्था के लक्षण

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायो मर्दलध्वनिः। महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धि समाश्रयम् ॥74

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः। दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥75

भावार्थ : नादयोग की इस तीसरी अवस्था में साधक को हृदय आकाश में मर्दल नामक वाद्ययंत्र की ध्वनि सुनाई देती है। प्राण सभी सिद्धियों को प्रदान करवाने वाले उस आकाश तत्त्व में पहुँच कर वहाँ स्थित विशुद्धि चक्र का भेदन करता है। जिसके परिणाम स्वरूप साधक को सहजानन्द की प्राप्ति होती है। इसके अलावा योगी सभी दोषों (वात, पित्त, कफ), सभी प्रकार के दुःखों, बुढ़ापा, सभी रोगों, भूख व निद्रा से मुक्त हो जाता है।

निष्पत्ति अवस्था के लक्षण

रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः। निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥76

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम्। सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥77

भावार्थ : नादयोग की चौथी अवस्था अर्थात् निष्पत्ति में साधक का प्राण रुद्रग्रन्थि का भेदन करके आज्ञा चक्र में स्थित हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप साधक को वीणा नामक अत्यन्त मनमोहक वाद्ययन्त्र की ध्वनि सुनाई देती है। साथ ही चित्त एकाग्र अवस्था को प्राप्त हो जाता है। जिसे राजयोग नामक समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में साधक में ईश्वर के समान सृष्टि को बनाने व नष्ट करने का सामर्थ्य आ जाता है।

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रै वाखण्डितं सुखम्। लयोद् भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥78

भावार्थ : साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो या न हो लेकिन राजयोग समाधि के परिणाम स्वरूप उसके चित्त में लय के उत्पन्न होने से उसे बिना खण्डित हुए (निरन्तर मिलने वाले) आनन्द की प्राप्ति होती है।

राजयोग का महत्व

राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः। एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥79

भावार्थ : जो योगाभ्यासी राजयोग को नहीं जानते और केवल हठयोग साधना का ही अभ्यास करते रहते हैं। मैं उन सभी साधकों के परिश्रम को निष्फल या निरर्थक (जिससे किसी प्रकार के फल की प्राप्ति नहीं होती) मानता हूँ।

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम् । राजयोगपदं प्राप्तुं सुखो पायोऽल्पचेतसाम् । सद्यः प्रत्ययसन्धायी जायते नादजो लयः ॥80
भावार्थ : जो साधक साधना में शीघ्र सफलता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अपनी दोनों भौहों के बीच में ध्यान लगाना चाहिए । इससे साधक को शीघ्र उन्मनी भाव (समाधि) की प्राप्ति होती है । ऐसा मेरा मानना है । इसके अलावा जिन योग साधकों को योग विषय में कम ज्ञान है या जो योग साधना को ज्यादा नहीं जानते। उनके लिए समाधि प्राप्ति हेतु नादयोग की साधना शीघ्र ही सुख व विश्वास उत्पन्न करवाने वाली सिद्ध होती है ।
नादानुसन्धानसमाधिभाजाम् योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् । आनन्दमेकं वचसामगम्यम् जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥81
भावार्थ : जिन साधकों ने नादानुसन्धान के द्वारा समाधि की प्राप्ति हो जाती है । उन सभी श्रेष्ठ योगियों के हृदय में एक विशेष प्रकार के अद्भुत व अवर्णनीय (जिसका वर्णन वाणी के द्वारा न किया जा सके) आनन्द की प्राप्ति होती है । इस आनन्द को तो वह साधक ही जानता है जिसने समाधि के द्वारा उसे प्राप्त किया है । उसके अतिरिक्त केवल श्रीगुरुनाथ अर्थात् गुरु गोरक्षनाथ ही जानते हैं ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः । तत्र चित्तं स्थिरी कुर्याद्यावत् स्थिरपदं व्रजेत् ॥82
भावार्थ : जो योग साधक अपने दोनों हाथों से दोनों कानों को बन्द करने पर उत्पन्न होने वाली ध्वनि को सुनकर उसी पर अपने चित्त को लगा लेता है । वही साधक स्थिरपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है ।
अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् । पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥83
भावार्थ : ऊपर वर्णित नादयोग विधि का अभ्यास करने पर साधक की सभी बाहरी ध्वनियाँ रुक जाती हैं । जिसके फलस्वरूप साधक मात्र पन्द्रह (15) दिनों में ही सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त करके सुखी हो जाता है ।
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् । ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥84
भावार्थ : जब साधक प्रारम्भ में नादयोग साधना का अभ्यास करता है तो उसे अनेकों प्रकार की तीव्र ध्वनियाँ सुनाई देती हैं । उसके कुछ समय बाद जब अभ्यास मजबूत हो जाता है तो साधक को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ध्वनियाँ भी सुनाई देती हैं ।
आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः । मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टा काहल जास्तथा ॥85
भावार्थ : साधना के प्रारम्भ में साधक को समुद्र की गर्जना, मेघ की गर्जना (बादलों की गड़गड़ाहट), भेरी नामक वाद्ययंत्र व झर्झर (झरने) के समान ध्वनियाँ सुनाई देती हैं । साधना काल के बीच में साधक को मर्दल (ढोल), शंख, घण्टा व घड़ियाल (मगरमच्छ) आदि के समान ध्वनियाँ सुनाई देती हैं ।
अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः । इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥86
भावार्थ : नादयोग साधना के अन्त में साधक को घुंघुरू, वंशी (बाँसुरी), वीणा (अत्यन्य मनमोहक वाद्ययंत्र) और भँवरे के समान ध्वनियाँ व सुषुम्ना में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के स्वर सुनाई पड़ते हैं ।
महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ । तत्र सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नादमेव परा मृशेत् ॥87
भावार्थ : साधक को बादल के गरजने व भेरी जैसे तीव्र ध्वनि वाले नाद सुनाई देने पर भी उसे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ध्वनियों को ही सुनने की कोशिश करनी चाहिए ।
घनमृत्युज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममृत्युज्य वा घने । रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चलायेत् ॥88
भावार्थ : जब नाद को सुनते हुए हमारा मन तीव्र ध्वनि से सूक्ष्म ध्वनि की ओर या सूक्ष्म ध्वनि से तीव्र ध्वनि की ओर घूमता रहता है तो भी साधक को अपने चंचल मन को इन ध्वनियों से अलग अन्य कहीं पर नहीं लेकर जाना चाहिए । तात्पर्य यह है कि साधक अपने मन को इन्ही ध्वनियों के मध्य रखे । इनके अतिरिक्त कहीं अन्य स्थान पर मन को नहीं लेकर जाना चाहिए ।
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥89
मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा ।नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि काङ्क्षते ॥90
भावार्थ : जब साधक का मन पहली बार किसी प्रकार के नाद (ध्वनि) को सुनता है तो उसका मन उसी ध्वनि के साथ लग जाता है और उसी नाद के साथ मन का एकीकरण (मिलन) हो जाता है अर्थात् जहाँ पर जिस भी नाद में एक बार मन लगता है तो वह वहीं पर उसके साथ लीन हो जाता है । जिस प्रकार फूलों के रस को पीने वाला भँवरा (एक प्रकार का कीट) उस रस की गन्ध की परवाह नहीं करता । ठीक उसी प्रकार जब साधक का मन नाद में पूरी तरह से लीन हो जाता है तो उसका मन किसी भी बाहरी विषय की कोई लालसा नहीं रखता है ।
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः । नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ॥91

भावार्थ : विषय रूपी उद्यान (बाग) में विचरण (घूमने) करने वाले मन रूपी मतवाले (अपनी मस्ती में घूमने वाला) हाथी को वश में करने के लिए नाद रूपी तीव्र नोक वाला हथियार ही समर्थ (उपयोगी) होता है ।

विशेष : हाथी को वश में करने के लिए उसका महावत (हाथी की देखभाल व उसे चलाने वाला) तेज नोक वाले हथियार का प्रयोग करता है । यहाँ पर नाद को तीव्र नोक वाले हथियार के रूप में सम्बोधित किया गया है ।

बद्धं तु नादबन्धेन मन: संत्यक्तचापलम् । प्रयाति सुतरां स्थर्यं छिन्नपक्ष: खगो यथा ॥92

भावार्थ : नादयोग के प्रभाव से हमारा मन अपनी चंचलता को छोड़ कर इस प्रकार स्थिर हो जाता है । जिस प्रकार एक पंख कटा हुआ पक्षी उड़ने में असमर्थ होने के कारण एक जगह स्थिर हो जाता है ।

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा । नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥93

भावार्थ : जो योग साधक योग साधना में पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं । उन्हें अपनी सभी प्रकार की चिन्ताओं का त्याग करके मन को एकाग्र करते हुए केवल नादानुसन्धान का ही अभ्यास करना चाहिए ।

नादोन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते । अन्तरङ्कुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥94

भावार्थ : मृग (हिरण) रूपी चंचल मन की चंचलता को बान्धने के लिए नादानुसन्धान का अभ्यास रस्सी की तरह काम करता है । जिस प्रकार चंचल हिरण को रस्सी या जाल से बान्ध कर एक जगह स्थिर किया जा सकता है । ठीक उसी प्रकार चंचल मन को स्थिर करने के लिए नादानुसंधान का अभ्यास करना चाहिए । साथ ही जिस प्रकार व्याध (शेर) हिरण को मार डालता है । ठीक उसी प्रकार नादानुसंधान रूपी शेर चंचल हिरण रूपी मन को मार देता है अर्थात् वह मन को अपने अन्दर लीन कर लेता है ।

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिन: परिघायते । नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥95

भावार्थ : यह नादानुसंधान की साधना मन रूपी घोड़े को रोकने के लिए चारदीवारी का कार्य करती है । जिस प्रकार घोड़े को रोकने के लिए एक उनको एक प्रकार की ऊंची चारदीवारी की आवश्यकता होती है । इसलिए योगी को मन की चंचलता को रोकने के लिए नित्य प्रति नादानुसंधान की साधना करनी चाहिए ।

बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात् । मन: पारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेऽटनम् ॥96

भावार्थ : स्थिर अथवा बाँधा हुआ मन रूपी पारे को गन्धक रूपी नादानुसंधान से भस्म करने के बाद वह प्रभावहीन (क्रियाहीन) हो जाता है अथवा स्थिर हो जाता है । ठीक उसी प्रकार नादानुसंधान द्वारा एक जगह स्थिर किया हुआ मन भी बिना किसी आश्रय के आकाश में स्थित अथवा लीन हो जाता है ।

नादश्रवणत: क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गम: । विस्मृत्य सर्वमेकाग्र: कुत्रचिन्न हि धावति ॥97

भावार्थ : जिस प्रकार सांप बीन (एक प्रकार का वाद्ययंत्र) को सुनकर अति शीघ्रता से एकाग्र होकर उस ध्वनि ध्यान पूर्वक सुनता है । ठीक उसी प्रकार नाद की ध्वनि को सुनने के बाद सर्प (सांप) रूपी मन भी सबकुछ छोड़कर अति शीघ्रता से एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है । अन्य किसी विषय के बारे में बिलकुल भी नहीं सोचता ।

काष्ठे प्रवर्तितो वह्नि: काष्ठेन सह शाम्यति । नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥98

भावार्थ : जिस तरह लकड़ी में लगी हुई आग उस लकड़ी के समाप्त होने पर स्वयं ही समाप्त हो जाती है । ठीक उसी तरह नाद में लगा हुआ मन भी उस नाद में ही विलीन अथवा लीन हो जाता है ।

घण्टादिनादसक्तस्तब्धान्त: करणहरिणस्य । प्रहरणमपि सुकरं शरसन्धानप्रवीणश्चेत् ॥99

भावार्थ : जिस प्रकार घण्टा आदि वाद्ययंत्रों की ध्वनि को सुनकर हिरण उसी में अपने को एकाग्र करके एक जगह पर स्थिर हो जाता है । उस समय धनुर्धर रूपी साधक अपनी कुशल धनुर्विद्या रूपी नाद द्वारा उस हिरण रूपी मन का आसानी से शिकार कर सकता है अर्थात् वह चंचल मन को नाद रूपी बाण द्वारा भेद सकता है । जिससे मन आसानी से नाद के साथ लीन हो जाता है ।

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते । ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मन: । मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णो: परमं पदम् ॥100

भावार्थ : अनाहत नाद से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसी के अन्दर जानने योग्य ब्रह्मा का निवास स्थान है और उस अनाहत नाद में ही हमारा मन पूरी तरह से लीन हो जाता है । इस स्थिति को विष्णु का परमपद अर्थात् सर्वोच्च स्थान कहा जाता है ।

तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्द: प्रवर्तते । नि:शब्दं तत् परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥101

भावार्थ : जहाँ तक आकाश की सीमा होती है वहीं तक नाद अर्थात् शब्द की सीमा होती है । इसका तात्पर्य यह है कि शब्द की उत्पत्ति आकाश नामक महाभूत से होती है । इसलिए जहाँ तक आकाश स्थित है वहीं तक शब्द अर्थात् नाद को सुना जा सकता है । जैसे ही

शब्द को सुनने की सीमा समाप्त हो जाती है अर्थात् शून्य अवस्था आ जाती है । वैसे ही वह परब्रह्म अर्थात् परमात्मा की अवस्था आ जाती है । शब्द शून्यता को ही परमात्मा कहा जाता है ।

यत् किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा । यस्तत्त्वान्तो निराकार: स एव परमेश्वर: ॥102

भावार्थ : जो भी नाद के रूप में हम ध्वनियाँ सुनाई देती हैं । वह शक्ति का ही रूप होता है और जहाँ पर इन तत्त्वों का अन्त हो जाता है अर्थात् जहाँ पर ये तत्त्व विलीन हो जाते हैं । वही परम तत्त्व अर्थात् परमात्मा है ।

सर्वे हठलयोपाया: राजयोगस्य सिद्धये । राजयोगसमारूढ: पुरुष: कालवञ्चक: ॥103

भावार्थ : हठयोग व लययोग की सभी साधना पद्धतियों का एकमात्र लक्ष्य राजयोग की प्राप्ति करना होता है । जो भी योगी हठयोग व लययोग साधना द्वारा राजयोग रूपी समाधि की प्राप्ति कर लेता है । वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ।

तत्त्वं बीजं हठ: क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभि: । उन्मनी कल्पलतिका सद्य: एव प्रवर्तते ॥104

भावार्थ : तत्त्व अर्थात् परमतत्त्व बीज के रूप में होता है और हठयोग साधना उस बीज के लिए भूमि (खेत) का काम करता है । साथ ही वैराग्य जल स्वरूप (जल का प्रतिनिधि) होता है । इन तीनों के एकसाथ मिलने से समाधि रूपी कल्पलता (पौधा) अति शीघ्र बढ़ने लगता है । तात्पर्य यह है कि हठयोग उपजाऊ भूमि है, वैराग्य उसको जल की आपूर्ति करता है । जिससे समाधि रूपी बेल या पौधा शीघ्रता से बढ़ने लगता है जिससे साधक को उस परम तत्त्व की प्राप्ति होती है ।

सदा नादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसञ्चया: । निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्त मारुतौ ॥105

भावार्थ : निरन्तरता के साथ नादानुसन्धान का अभ्यास करने वाले साधक के पाप अर्थात् दु:ख के सारे समूह नष्ट हो जाते हैं । साथ ही उसका प्राण व मन ब्रह्म (परमात्मा) में संयुक्त (लीन) हो जाते हैं ।

शङ्खदुन्दुभिनादं च न श्रृणोति कदाचन । काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥106

भावार्थ : उन्मनी (समाधि) अवस्था प्राप्त होने पर साधक का शरीर ध्रुव तारे व लकड़ी की तरह ही स्थिर हो जाता है । तब उस योगी को शंख व दुन्दुभि आदि तीव्र ध्वनि वाले नाद नहीं सुनाई देते ।

विशेष : ध्रुव तारे की यह विशेषता होती है कि वह सदा एक ही जगह पर स्थिर रहता है । किसी भी परिस्थिति में वह अपनी जगह नहीं बदलता । अतः उसे स्थाई माना जाता है तभी यहाँ पर उसका उदाहरण दिया गया है । ठीक इसी प्रकार लकड़ी का टुकड़ा भी स्थिर होता है ।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्त: सर्वचिन्ताविवर्जित: । मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशय: ॥107

भावार्थ : जो योगी साधक सभी अवस्थाओं से मुक्त (रहित) होता है, सभी प्रकार की चिन्ताओं से जो दूर होता है । वह मरे हुए प्राणी की भाँति स्थिर रहता है । ऐसा योगी पूर्ण रूप से मुक्त होता है । इसमें किसी तरह का कोई सन्देह (शक) नहीं है ।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्त: समाधिना ॥108

भावार्थ : समाधिस्थ योगी सभी प्रकार की अवस्थाओं से मुक्त होने के कारण मृत्यु को प्राप्त नहीं होता । न ही कर्म संस्कार उसको बाधा सकते हैं । ऐसे योगी को किसी भी प्रकार के उपाय से वश (नियंत्रण) में नहीं किया जा सकता । वह सदा मुक्त ही रहता है ।

न गन्धं न रसं न च स्पर्शं न नि:स्वनम् । नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्त: समाधिना ॥109

भावार्थ : समाधिस्थ योगी को किसी भी प्रकार की गन्ध, रस, रूप (दर्शन) व स्पर्श आदि का अनुभव नहीं होता । वह इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान से रहित अवस्था वाला हो जाता है । यहाँ तक की उसे अपना व दूसरे प्राणियों का भी ध्यान नहीं रहता । वह तो पूरी तरह से मुक्त हो कर रहता है ।

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत् स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् । न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव स: ॥110

भावार्थ : जिस भी योगी साधक का चित्त जाग्रत व सुप्त अवस्था से, स्मृतियों व विस्मृतियों से व उदय और अस्त से पूरी तरह से अप्रभावित (रहित) है । वही साधक पूरी तरह से मुक्त अवस्था वाला होता है ।

न विजानाति शीतोष्णं न दु:खं न सुखं तथा । न मानं नापमानं च योगी युक्त: समाधिना ॥111

भावार्थ : समाधिस्थ योगी को कभी भी सर्दी गर्मी, सुख दु:ख व मान अपमान का अनुभव नहीं होता । वह इन सभी द्वन्द्वों से पूरी तरह से मुक्त होता है । इनका उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता अर्थात् वह इन सभी स्थितियों में सम रहता है ।

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते । नि:श्वासोच्छ् वासहीनश्च निश्चितं मुक्त: एव स: ॥112

भावार्थ : जो योगी साधक पूर्ण रूप से स्वस्थ होता है । वह जागते हुए भी सोये हुए के समान स्थिर रहता है अर्थात् उसमें किसी प्रकार की चंचलता नहीं रहती । उसके श्वास व प्रश्वास की गति भी स्थिर (नियन्त्रित) हो जाती है । इसी अवस्था वाला साधक ही निश्चित रूप से मुक्त होता हैं ।

अवध्य: सर्वशस्त्राणामशक्य: सर्वदेहिनाम् । अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्त: समाधिना ॥113

भावार्थ : समाधिस्थ योगी का शरीर सभी प्रकार के हथियारों के प्रभाव से रहित होता है अर्थात् उसे किसी भी प्रकार के अस्त्र शस्त्र से मारा नहीं जा सकता । साथ ही वह सभी प्राणियों के नियंत्रण से बाहर होता है । उसके ऊपर किसी प्रकार की कोई तन्त्र मन्त्र की शक्ति भी असर नहीं करती है । इस प्रकार वह योगी अद्भुत शक्ति से परिपूर्ण होता है ।

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतौ मध्यमार्गे यावद् बिन्दुर्न भवति दृढ: प्राणावातप्रबन्धात् । यावद् ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वम् तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलाप: ॥114

भावार्थ : जब तक साधक का चलता हुआ प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश नहीं करता है, जब तक प्राणवायु के नियंत्रण द्वारा वीर्य शरीर में स्थिर नहीं होता, जब तक उस परमतत्त्व (परमात्मा) का ध्यान आसानी से नहीं हो जाता । तब तक उसे जो ज्ञान है अर्थात् जिसे वह ज्ञान मानता है । वह अभिमान द्वारा पैदा हुआ झूठा राग ही है ।

६ अध्याय ५ पञ्चम उपदेश

अध्याय की भूमिका

हठप्रदीपिका के पाँचवें अध्याय के विषय में दो प्रकार के मत मिलते हैं । एक तो यह कि एक मत का मानना है कि हठप्रदीपिका का यह पाँचवा अध्याय योग का पाँचवा अंग है । दूसरा मत है कि यह पाँचवा अध्याय तो है लेकिन इसे हठ प्रदीपिका में वर्णित योग का अंग नहीं माना जाता । इनमें से दोनों ही मतों के विषय में आचार्यों ने अपने अलग- अलग तर्क भी दिए हैं । जब हम इस बात का विश्लेषण करते हैं तो हमें इस बात का पता चलता है कि हठ प्रदीपिका में वर्णित पाँचवा अध्याय बिलकुल सही है । इसका वर्णन स्वामी स्वात्माराम ने ही किया है । लेकिन स्वामी स्वात्माराम ने इसे योग के पाँचवें अंग के रूप में नहीं माना है । इसका प्रमाण हठ प्रदीपिका का चौथा अध्याय है । हठ प्रदीपिका के पहले ही अध्याय में बताया गया था कि हठयोग का अन्तिम उद्देश्य राजयोग की प्राप्ति करना है । स्वामी स्वात्माराम ने योग के अन्तिम अंग के रूप में नादानुसंधान (समाधि) को बताया है । जिसका वर्णन हम पिछले (चौथे) अध्याय में कर चुके हैं । इसलिए यह पाँचवा अध्याय योग का अंग तो हो ही नहीं सकता । पाँचवें अध्याय में स्वामी स्वात्माराम ने अपने स्वयं के चिकित्सा सम्बन्धी अनुभवों को बताया है । ताकि जो भी योगी साधक योग की किसी भी क्रिया को करने में यदि गलती कर देता है तो उसका यौगिक विधि से समाधान हो सके । अतः यह अध्याय चिकित्सा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसलिए यह पाँचवा अध्याय अवश्य है लेकिन इसे हठ प्रदीपिका के योग अंगों में शामिल नहीं किया जा सकता । बहुत सारे विद्यार्थियों का यह प्रश्न था कि इस पाँचवें अध्याय को हम योग का अंग समझे कि केवल अध्याय ? उनके इस प्रश्न के समाधान हेतु ही हमने इस विषय को अध्याय के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया । ताकि विद्यार्थियों में किसी प्रकार की भ्रम की स्थिति न रहे ।

प्रमादी युज्यते यस्तु वातादिस्तस्य जायते । तद्दोषस्य चिकित्सार्थं गतिर्वायोर्निरूप्यते ॥1 ॥

भावार्थ :- योग साधना में लापरवाही बरतने वाले साधकों के शरीर में वात, पित्त व कफ से सम्बंधित रोग उत्पन्न हो जाते हैं । उन सभी रोगों की चिकित्सा हेतु प्राणवायु की गति का स्वरूप क्या होना चाहिए ? इसका वर्णन किया जा रहा है ।

विशेष :- इस अध्याय में योग मार्ग में लापरवाही बरतने वाले साधकों हेतु यौगिक चिकित्सा का वर्णन किया गया है ।

वायोरुर्ध्वं प्रवृत्तस्य गतिं ज्ञात्वा प्रयत्नतः । कुर्याच्चित्तकित्सां दोषस्य द्रुतं योगी विचक्षण: ॥2

भावार्थ :- बुद्धिमान योग साधक को ऊपर की ओर उठने वाली प्राणवायु की गति को पूरे प्रयत्न के साथ अच्छे से समझकर उससे अतिशीघ्र ही सम्बंधित रोग की चिकित्सा करनी चाहिए ।

शरीर में वात,पित्त व कफ का स्थान

तलपादनाभिदेशे वातस्थान मुदीरितम् । आनाभेर्हृदयं यावत् पित्तकोष्ठं प्रकीर्तितम् ॥3

हृद्देशादूर्ध्वकायस्तु श्लेष्मधातुरिहोच्यते । इति त्रयाणां धातूनां स्वं स्वं स्थानमुदीरितम् ॥4

भावार्थ :- पैर के तलवे से लेकर नाभि प्रदेश तक वायु (वात) का स्थान होता है । नाभि प्रदेश से लेकर हृदय प्रदेश तक पित्त का स्थान होता है और हृदय प्रदेश से लेकर ऊपर तक अर्थात् मस्तिष्क तक कफ धातु का स्थान होता है । इस प्रकार ऊपर वर्णित स्थितियों के अनुसार हमारे शरीर में धातुओं (वात, पित्त व कफ) के स्थान बताए गए हैं ।

विशेष :- हमारे शरीर में तीन धातु मुख्य रूप से होती हैं । जिनको क्रमशः वात, पित्त व कफ कहा गया है । जब तक हमारे शरीर में इन धातुओं की अवस्था सम रहती है तब तक हमें किसी प्रकार का कोई रोग नहीं होता है । लेकिन जैसे ही इनमें से कोई भी धातु असन्तुलित (घटती या बढ़ती है) होती है । वैसे ही हमें उसी धातु से सम्बंधित कोई न कोई रोग हो जाता है । अतः सभी रोगों से बचने के लिए इन तीनों ही धातुओं को सम अवस्था में रखना अति आवश्यक है ।

प्रमादाद्योगिना वायुरुन्मार्गेण प्रवर्तित: । तदा मार्गमना साद्य ग्रन्थी भूत्वावतिष्ठते ॥5

तदा नानाविधा रोगा जायन्ते विघ्नकारका: । तेषां चिकित्सां वक्ष्यामि यथोक्तां तत्र वेदिभि: ॥6

भावार्थ :- योग साधक की लापरवाही से कई बार हमारी प्राणवायु गलत दिशा में प्रवाहित हो जाती है । जिससे उसे सही दिशा न मिलने की वजह से वह एक ही जगह पर अपना स्थान बना लेती है और गांठ का रूप धारण कर लेती है । तब उस वायु के गलत दिशा में जाने से वह शरीर में अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करती है । ऐसा आयुर्वेद व चिकित्सा पद्धति को जानने वाले आचार्यों का कहना है । अब आगे मैं उन्ही के अनुसार चिकित्सा पद्धति का उपदेश करूँगा ।

पित्त के असन्तुलन से होने वाले रोग

उन्मार्गं प्रस्थितो वायु: पित्तकोष्ठे यदा स्थित: । हृच्छूलं पार्श्वशूलं च पृष्ठशूलं च जायते ॥7

भावार्थ :- जब प्राणवायु अपने मार्ग से हटकर पित्त प्रकोष्ठ में चली जाती है । तब हमारे हृदय प्रदेश, हृदय के साथ वाले हिस्से में व पीठ (कमर) में पीड़ा (दर्द) का अनुभव होता है ।

पित्त से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा

तैलाभ्यङ्गं तदा पथ्यं स्नान चोष्णेन वारिणा । सघृतं पायसं भुक्त्वा जीर्णेऽन्ने योगमभ्यसेत् ॥8

भावार्थ :- जिस भी साधक का पित्त असन्तुलित हो गया है । तब उसे तेल की मालिश व गरम पानी से स्नान करना लाभदायक होता है । साथ ही उसे घी व खीर जैसे शीघ्र पचने वाले खाद्य पदार्थ का सेवन करना चाहिए और उनके पचने (हजम) पर योग का अभ्यास करना चाहिए ।

यस्मिन् यस्मिन् यदा देशे रुजा बाधा प्रजायते । तस्मिन् देशे स्थितं वायुं मनसा परिचिन्तयेत् ॥9

भावार्थ :- शरीर के जिस भी हिस्से में वायु के रुकने के कारण पीड़ा (दर्द) हो रही है । तब वहीं अर्थात् उसी स्थान पर स्थित प्राणवायु का मन द्वारा चिन्तन करना चाहिए ।

एकचित्तेन तद् ध्यात्वा पूरयेत् पूरकेण तु । नि:शेषरेचकं कुर्यात् यथाशक्तया प्रयत्नतः ॥10

भावार्थ :- अपने चित्त को दर्द वाले स्थान पर एकाग्र करते हुए पहले वायु को अन्दर भरें (फेफड़ों में) । इसके बाद अपने सामर्थ्य (ताकत) के अनुसार उस प्राणवायु को बाहर निकाल दें ।

विशेष :- इस श्लोक में वायु को पूरक (अन्दर) व रेचक (बाहर) करने की बात कही गई है ।

बहुधा रेचकं कृत्वा पूरयित्वा पुनः पुनः । कर्षयेत् प्राक्स्थितं वायुं कर्णतोयमिवाम्बुना ॥11

भावार्थ :- जिस प्रकार नहाते हुए जब गलती से कान में पानी चला जाता है तो उसे निकालने के लिए हम उसी कान में थोड़ा सा पानी और डाल लेते हैं । जिससे पहले गलती से गया हुआ पानी भी इस पानी के साथ वापिस आ जाता है । ठीक इसी प्रकार जो प्राणवायु गलती से गलत मार्ग में जाकर रुक गयी है । उस वायु को बाहर निकालने के लिए साधक को बार- बार श्वास को अन्दर व बाहर करना चाहिए । ताकि इसके साथ वह रुका हुआ वायु बाहर निकल सके ।

विशेष :- इस श्लोक में बताया गया नुस्खा अत्यन्त उपयोगी होता है । मैंने स्वयं इसका प्रयोग बहुत बार किया है । बचपन में नहर व तालाब में नहाते हुए अनेक बार मेरे कान में पानी चला जाता था । जिससे सुनने में कठिनाई होती थी और सिर में भारीपन हो जाता था । लेकिन एक दिन गाँव की ही नहर में नहाते हुए मेरे दोस्त मनोज के भी कान में पानी चला गया । उसने तुरन्त अपने हाथ की अंजलि में पानी लेकर अपने उसी कान में डाल लिया । जब मैंने इसका कारण पूछा तो उसने बताया कि जब भी कान में पानी चला जाये तो ऐसा ही करना चाहिए । जिससे पहले गलती से गया हुआ पानी बाहर निकल जाता है । इसके बाद उसने अपने कान को नीचे की ओर झुकाया और पानी झट से निकल गया । इसके लिए व्यक्ति को पूरी विधि का प्रयोग करना पड़ेगा । अन्यथा कान से पानी बाहर नहीं निकलेगा । इसके लिए जिस कान में पानी गया है उसी कान में और पानी डालकर उस कान को नीचे की ओर झुकाना चाहिए । ताकि पानी आसानी से बाहर निकल जाए । ठीक इसी फार्मूले (विधि) का प्रयोग हमें शरीर के अन्दर रुकी हुई वायु को बाहर निकालने के लिए करना चाहिए ।

प्रायः स्निग्धमाहरं च इह भुञ्जीत योगवित् । एवं शूलादयो रोगा: शाम्यन्ति वातपित्तजा: ॥12

भावार्थ :- योगी साधक को इस अवस्था में अपने भोजन में स्निग्ध अर्थात् दूध से बने चिकने पदार्थों का ही प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार का आहार ग्रहण करने से साधक के सभी वात और पित्त से सम्बंधित रोग दूर हो जाते हैं ।

कफ से उत्पन्न रोग व उसका समाधान

कफकोष्ठे यदा वायुर्ग्रन्थीभूत्वावतिष्ठते । हृत्का सहिक्काश्वासशिर: शूलादयो रुजा: ॥13

जायन्ते धातुवैषमयात्तदा कुर्यात् प्रतिक्रियाम् । सम्यक् भोजनमादायोपस्पृश्य तदनन्तरम् ॥14

कुम्भकं धारणां कुर्याद् द्वित्रिवारं विचक्षणः । एवं श्वासादयो रोगा: शाम्यन्ति कफपित्तजा: ॥15

भावार्थ :- वायु के गलत दिशा में जाने से जब प्राणवायु कफ के स्थान (हृदय से मस्तिष्क तक) में पहुँच कर वहाँ पर रुक जाती है तो वहाँ पर वह गांठ का रूप धारण कर लेती है । जिसके परिणामस्वरूप साधक को हृदय में दर्द, खाँसी, हिचकी, दमा (अस्थमा) व सिर में दर्द आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर साधक को अच्छी प्रकार से मुहँ साफ करके अच्छा अनुकूल भोजन ग्रहण करना चाहिए । उस भोजन के पचने के बाद बुद्धिमान साधक को दिन में दो से तीन बार कुम्भक अर्थात् वायु को रोकने का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा करने पर साधक के सभी कफ व पित्त से उत्पन्न श्वास सम्बंधित (अस्थमा, खाँसी, हिचकी, सिर दर्द व हृदय दर्द) रोग समाप्त हो जाते हैं ।

भुक्त्वा पायससं चोष्णां क्षीरं वापि घृतप्लुतम् । वारुणीधारणां कृत्वा कुर्यात् सर्वाङ्गयत्रणम् ॥16

भावार्थ :- साधक को घी युक्त खीर (खीर में घी डालकर) या गर्म दूध में घी डालकर पीना चाहिए और वारुणी धारणा (जल तत्त्व के स्थान अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र पर चित्त को एकाग्र करना) का अभ्यास करके सम्पूर्ण शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयास करना चाहिए ।

एवं कुष्ठादयो रोगा: प्रणश्यन्ति न संशय: । नेत्रे निमील्य कुर्वीत तिमिरादि प्रणश्यति ॥17

भावार्थ :- ऊपर वर्णित विधि का अभ्यास करने से साधक के सभी कुष्ठ (एक प्रकार का चर्म रोग) आदि चर्म रोग समाप्त हो जाते हैं । और यदि साधक द्वारा इसी क्रिया का अभ्यास आँखें बन्द करके किया जाए तो उसके तिमिर (रतौन्धी) आदि नेत्र विकार भी नष्ट हो जाते हैं ।

वेपथुर्वातरक्तं च योगिनो जायते यदा । यत्र यत्र रुजा बाधा तत्र वायुं विचिन्तयेत् ॥18

भावार्थ :- जब साधक को अपने शरीर में कम्पन व अन्य वातरक्त से उत्पन्न रोग (गठिया आदि) के लक्षण दिखाई देने लगें । तो उसे प्राणवायु के रुकने के कारण जहाँ- जहाँ पर भी दर्द का अनुभव हो रहा है । वहीं – वहीं पर उसे प्राणवायु का चिन्तन करना चाहिए ।

पूरयित्वा तत: सम्यक् पूरकेण विचक्षण: । धारयित्वा यथाशक्ति नाडीयोगेन रेचयेत् ॥19

भावार्थ :- ऊपर वर्णित वात विकारों को नष्ट करने के लिए बुद्धिमान साधक द्वारा ज्यादा से ज्यादा प्राणवायु को शरीर के अन्दर भरकर उसे अपने सामर्थ्य (ताकत) के अनुसार अन्दर ही रोकते हुए वायु को नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए अर्थात् एक प्रकार से अन्त:कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए ।

सङ्कुच्याकर्षयेद् भूय: कूर्मवद्रेचकेन तु । चक्रवद् भ्रामयेद्वापि पूरयित्वा पुनः पुनः ॥20

भावार्थ :- ऊपर वर्णित विधि का प्रयोग करने के बाद साधक को श्वास को पहले अन्दर भरना चाहिए और उसके बाद उसे बाहर निकाल कर अपने अंगों को कछुए की तरह सिकोड़ते हुए पेट को बार- बार चक्र की भाँति घुमाना चाहिए ।

विशेष :- इस श्लोक में नौलि क्रिया करने की सलाह दी गई है । यहाँ पर पेट को चक्र की भाँति घुमाने का अर्थ नौलि क्रिया ही है ।

उत्तानोऽथ समे देशे ततं कृत्वा तु विग्रहम् । प्राणायामं प्रकुर्वीत सर्वदोषप्रशान्तये ॥21

भावार्थ :- साधक को दोषों (वात, पित्त व कफ) से उत्पन्न सभी विकारों को दूर करने के लिए समतल भूमि (एक समान अर्थात् बीना ऊंच नीच के) पर कमर के बल सीधा लेटकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए । इससे साधक के सभी रोग समाप्त हो जाते हैं ।

विशेष :- यहाँ पर प्राणायाम करते हुए सीधा लेटने की विधि का उपदेश किया गया है । इस विधि से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर ग्रन्थकार स्वामी स्वात्माराम उज्जायी प्राणायाम करने की बात कह रहे हैं । ऐसा इसलिए सम्भव है क्योंकि पूरी हठ प्रदीपिका में एकमात्र उज्जायी प्राणायाम ही ऐसा है जिसका अभ्यास साधक खड़े होकर, बैठकर, चलते हुए या लेट कर कर सकता है ।

वैद्यशास्त्रोक्तविधिना क्रियां कुर्वीत यत्नत: । कुर्याद्योगचिकित्सां च सर्वरोगेषु रोगवित् ॥22

भावार्थ :- सभी रोगों को भली प्रकार से जानने वाले चिकित्सक व आयुर्वेद के वैद्य द्वारा बताई गई चिकित्सा पद्धति द्वारा ही साधक को प्रयत्नपूर्वक अपनी चिकित्सा करनी चाहिए । साथ ही योग ग्रन्थों में वर्णित (षट्कर्म आदि) चिकित्सा विधि का प्रयोग करना चाहिए ।

यत्र यत्र रुजा बाधा तं देशं व्याप्य धारयेत् ॥23

भावार्थ :- जहाँ- जहाँ पर भी प्राणवायु के रुकने से रोग उत्पन्न हुए हैं । वहीं- वहीं पर अर्थात् उसी स्थान पर साधक प्राणवायु को धारण करें । तात्पर्य यह है कि जहाँ भी वायु के रुकने से कष्ट का अनुभव होता है । वहीं पर वायु को स्थिर करके उसी का चिन्तन करना चाहिए । ऐसा करने से वहाँ स्थित वायु नष्ट हो जाएगी । जिससे वहाँ होने वाला दर्द भी समाप्त हो जाएगा ।

भीतिबाधान्तरायेषु समुत्पन्नेषु योगवित् । यथाशक्ति प्रयत्नेन योगाभ्यासं विवर्धयेत् ॥24

भावार्थ :- हठप्रदीपिका के इस अन्तिम श्लोक में स्वामी स्वात्माराम ने योग साधना के नियमित अभ्यास पर बल देते हुए कहा है कि योग साधना को जानने वाले साधक को सभी प्रकार के भय, बाधाओं और अन्य प्रकार के विघ्न अर्थात् योग मार्ग में उत्पन्न होने वाली अन्य बाधाओं के उत्पन्न होने पर भी प्रयत्न पूर्वक अपनी सामर्थ्यता (किसी भी प्रकार की बाधा होने पर अपनी ताकत के अनुसार) के अनुसार योग साधना का अभ्यास करना चाहिए ।

विशेष :- इस श्लोक में स्वामी स्वात्माराम ने योग साधना को प्रत्येक अवस्था में निरन्तरता व नियमितता के साथ करने की बात कही है । किसी प्रकार के रोग अथवा अन्य बाधा उत्पन्न होने पर भी अपने सामर्थ्य के अनुसार योगाभ्यास करना चाहिए । फिर भले ही वह अभ्यास थोड़ी मात्रा में किया जाए । लेकिन करना अवश्य है । इस श्लोक से सभी योग साधकों, विद्यार्थियों, व्यवसायी, राजनेता, किसानों, लेखकों व अन्यों को भी प्रेरणा लेनी चाहिए और बिना रुके बिना थके पूरी ईमानदारी, दिलचस्पी, मनोभाव व सावधानी से अपना- अपना कार्य करना चाहिए । यह श्लोक हमें कर्मयोग की प्रेरणा देता है ।

इसी श्लोक के साथ हठयोग का यह अनुपम ग्रन्थ हठप्रदीपिका पूर्ण हुआ ।

॥इति श्री सहजानन्द सन्तानचिंतामणि स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायामौषध कथनं नाम पञ्चमोपदेश: ॥